# त्याग की भावना

पं० धर्मदेव वेदवाचस्पति

त्याग मनुष्य जीवन का आधार-स्तम्भ है, सब धर्मों का मूल है। त्याग से मनुष्य के आत्मिक तथा सामाजिक जीवन का विकास होता है। हृदय विशाल बनता है। श्रेय मार्ग का अनुसरण करने के लिए त्याग का रथ ही सामर्थ्यवान् है। पवित्र भाव से किया हुआ त्याग मनुष्य में देवगुणों की पूर्ति करता है।
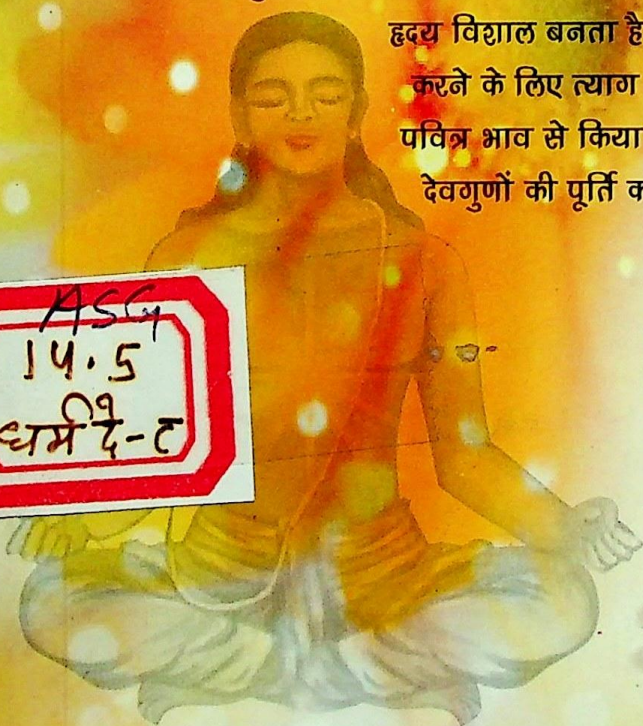
॥ ओ३म् ॥

# त्याग की भावना

लेखक
पं० धर्मदेव वेदवाचस्पति

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

# निवेदन

आप सभी स्वाध्याय प्रेमी सज्जनों की सेवा में ऋग्वेद के दो सूक्त (ऋग्वेद मं० 10/सूक्त 107 तथा 117) स्वाध्याय के लिये समर्पित हैं। इन सूक्तों में त्याग का उपदेश दिया गया है। त्याग मनुष्य जीवन का अधार-स्तम्भ है, सब धर्मों का मूल है। इनमें से प्रथम सूक्त में यज्ञार्थ त्याग करने की महिमा बताई गई है। त्याग से मनुष्य के आत्मिक तथा सामाजिक जीवन का विकास होता है। हृदय विशाल होता है। श्रेय मार्ग का अनुसरण करने के लिये त्याग का रथ ही सामर्थ्यवान् होता है। पवित्र भाव से यज्ञार्थ किया हुआ त्याग मनुष्य में देवगुणों की पूर्ति करने वाला होता है-

**दैवी पूर्तिः दक्षिणा देवयज्या।**

त्याग के मार्ग का अनुसरण करता हुआ शनैः-2 मनुष्य देवपद को प्राप्त हो जाता है। और आसक्ति तथा स्वार्थ का जीवन व्यतीत करने वाला पुरुष असुरभाव को प्राप्त होता है। स्वार्थ से पाप की वृद्धि होती है।

**केवलाघो भवति केवलादी।**

'एकाकी भोग करने वाला बिलकुल पापी होता है।' आध्यात्मिक-सम्पत्ति के अतिरिक्त भौतिक सुख सम्पत्ति की प्राप्ति भी त्याग से ही उपलब्ध होती है। यह इस सूक्त में बताया गया है। अतएव मनुष्य को अपने में त्याग की भावना को शनैः-2 बढ़ाना चाहिये। विषय से आसक्ति हटाकर दीन दुखियों की सहायता करना तथा समाज की सामूहिक भलाई के

लिये यथा सम्भव तन मन धन का त्याग करना चाहिये, यह दोनों सूक्तों का सार है।

प्रथम सूक्त में त्याग के लिये 'दक्षिणा' का प्रयोग किया गया है और दक्षिणा नाम यज्ञार्थ त्याग का है, अत एव हमने प्रारम्भिक विवेचना में यज्ञ वस्तु के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। पाठक गण इन सूक्तों का स्वाध्याय करने से पूर्व यदि प्रारम्भिक विवेचना को ध्यान पूर्वक पढ़ लेंगे तो त्याग-दक्षिणा को भली-भाँति समझ सकेंगे।

भारतवर्ष प्राचीन काल से यज्ञ-देश रहा है। हमें फिर से यज्ञ प्रथा को जीवित करना चाहिये। परंतु यह यज्ञ बिना त्याग के सफल नहीं हो सकता। त्यागमय जीवन ही हमें यज्ञमय बना सकता है।

———✦✦✦———

# विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

**विषय** **पृष्ठ**

## दान-सूक्त

# प्रारम्भिक विवेचना

इस दक्षिणा सूक्त के अर्थ को पाठकों के सन्मुख उपस्थित करने से पूर्व कुछ एक आधारभूत बातों का विवेचन कर देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। इसलिये दक्षिणा के माहात्म्य को, वास्तविक स्वरूप को, हृदयंगम करने के लिये पहले दक्षिणा के साथ संबद्ध 'यज्ञ' शब्द को पूर्णतया जान लेना चाहिये। दक्षिणा के मोटे स्वरूप को सभी लोग जानते हैं कि यह दक्षिणा (सुवर्ण आदि के रूप में) ऋत्विक् या पुरोहित को यज्ञ के समय दी जाती है। दक्षिणा को यज्ञ की दुहिता कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है–**'दक्षिणा वै यज्ञानां पुरागवी।'** अर्थात् दक्षिणा यज्ञ के आगे-आगे चलने वाली होती है। जहाँ 2 यज्ञ जाता है, यज्ञ किया जाता है, वहाँ-वहाँ पहले दक्षिणा जाती है। दक्षिणा यज्ञ की मुख्य नेत्री है। इसी लिये आगे चल कर कहा है–**'यज्ञोऽदक्षिणोरिष्यति। तस्मादाहुः दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा।'** अर्थात् दक्षिणा के बिना यज्ञ का वास्तविक स्वरूप नष्ट हो जाता है। इसलिये यज्ञ में दक्षिणा देनी ही चाहिये। इस समय प्रारम्भिक विवेचना में हमें विचारना यह है कि यज्ञ का क्या अभिप्राय है। दक्षिणा का यज्ञ के साथ क्या संबंध है। दक्षिणा को यज्ञ की 'दुहिता' या 'पुरोगवी' कहने का क्या प्रयोजन है और दक्षिणा के बिना यज्ञ का स्वरूप नष्ट क्यों हो जाता है। अब हम निम्न तीन शीर्षकों में इन बातों पर प्रकाश डालेंगे।

1. यज्ञ का वास्तविक स्वरूप।
2. यज्ञ की दुहिता या पुरोगवी दक्षिणा।
3. दक्षिणा के बिना यज्ञ की हिंसा।

## 1. यज्ञ का स्वरूप

हम आर्य व हिन्दू लोग 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग बहुत करते हैं। परंतु 'यज्ञ' शब्द के वास्तविक अभिप्राय को हम में से कितने जानते हैं। 'यज्ञ' शब्द तो हमारे वैदिक तथा लौकिक साहित्य में कूट 2 कर भरा हुआ है। कतिपय विद्वान् वेदों को तथा उनसे प्रतिपाद्य धर्म को यज्ञमूलक बताते हैं। पुरुष-सूक्त में सम्पूर्ण सृष्टि तथा वेदों की उत्पत्ति 'यज्ञ' से बताई है।

**तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।**
**पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये।।**
**तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।**
**छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।**

ऋ० 10.90.8,9 अथर्व० 19.6.8,9

भारतवर्ष में ही वैदिक भाष्यकार कुछ विद्वान् वेद मंत्रों का विनियोग यज्ञ में ही करते रहे हैं। इनकी सम्मति में वेद के सब मंत्र किसी न किसी यज्ञ-दर्श, पौर्णमास, अग्निष्टोम, विश्वजित्, राजसूय प्रभृति-के सम्पादन के लिये रचे गए हैं। यह याज्ञिक सम्प्रदाय युक्तियुक्त है या नहीं, इसकी तो विवेचना करना यहाँ पर अप्रासंगिक होगा। इससे इतना अवश्य पता चलता है कि हम भारतवासियों में यज्ञ की कितनी अधिक प्रधानता रही है। यदि हम यज्ञ शब्द के वास्तविक अभिप्राय को समझ जावें तो सम्भवतः हमें याज्ञिक सम्प्रदाय के सिद्धांत में भी कुछ सत्यता दिखाई देने लगे। अभी तक हम लोगों के मन में 'यज्ञ' शब्द के साथ कुछ विशेष संस्कार जुड़े हुए हैं। 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग करते ही हमें अग्निहोत्र का बोध होने लगता है। हम समझते हैं कि समिधाओं द्वारा अग्नि प्रज्वलित करके, मंत्रपाठपूर्वक घृत आदि की आहुति देना ही यज्ञ है। इन्हीं संकुचित अर्थों में ही याज्ञिक सम्प्रदाय के अनुयायी 'यज्ञ' शब्द

का प्रयोग करते हैं। यह यज्ञ–अर्थात् अग्निहोत्र रूप यज्ञ–तो वास्तविक यज्ञ का एक चिह्न मात्र (Symbol) है। यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र ही नहीं। इस शब्द में अत्यन्त विस्तृत गूढ़ रहस्य अन्तर्निहत है। यदि हम यज्ञ शब्द के अन्तर्निहित इस गूढ़ रहस्य को समझ जावेंगे तो यज्ञ के पूर्वोक्तमाहात्म्य को जान लेंगे।

**यज्ञ के माहात्म्य के संबंध में निम्नलिखित मंत्र ध्यान देने योग्य है–**

**अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः।**

ऋ० 1.164.35 यजु० 23.62।। अथर्व० 9.10.14

'यह यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नाभि है, बांधने वाला है।' यह मन्त्र ऋक्, यजु और अथर्व तीनों वेदों में पाया जाता है। इस से पहले मन्त्र में प्रश्न किया गया है–

**पृच्छामि त्वा विश्वस्य भुवनस्य नाभिम्।।**

ऋ० 10.164.34 यजु० 23.61 अथर्व 9.10.13

अर्थात् मैं तुझ से पूछता हूँ कि इस सम्पूर्णब्रह्माण्ड को बांधने वाली वस्तु कौन सी है। इसी प्रश्न का अगले मंत्र में **'अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः'** इस प्रकार उत्तर दिया है। तो फिर हमें जानना चाहिये कि यह यज्ञ क्या वस्तु है, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बंधा हुआ है। केवल दर्श, पौर्णमास प्रभृति अग्निहोत्र तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बांधने वाले प्रतीत नहीं होते। अतः यज्ञ शब्द का कोई अन्य गूढ़ अभिप्राय होना चाहिये। यह यज्ञ क्या वस्तु है, इस का क्या अर्थ है, इसका हम अगले प्रकरण में विचार करेंगे।

## यज्ञ शब्द का अर्थ

वेद का स्वाध्याय करते हुए हमें इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक शब्द यौगिक हैं, रूढ़ी नहीं। अर्थात्

प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु से उत्पन्न हुआ है और धातु प्रतिपादित अर्थ जिस–जिस क्षेत्र में–शरीर में, राष्ट्र में समाज में, अथवा ब्रह्माण्ड में–प्रयुक्त होता है वहाँ उसी धातु प्रतिपादित अर्थ विशेष को जतला रहा होता है। वह शब्द किसी एक ही अर्थ में रुढ़ि नहीं हो जाता। उदाहरणार्थ 'कर' शब्द संस्कृत धातु 'डुकृञ् करणे' से बना है। इसलिए 'कर' शब्द का धात्वर्थ होगा 'करना, करने वाला।' शरीर में पुरुष जिस अंग द्वारा वस्तुओं का ग्रहण करता रहता है, उस अंग–हाथ–को संस्कृत में 'कर' कह देते हैं। राष्ट्र में राजा जिस अंग द्वारा, साधन द्वारा, प्रजाओं से धन को ग्रहण करता है उसे 'कर' (Tax) कह देते हैं। एवमेव ब्रह्माण्ड में सूर्य अपने जिस अंग द्वारा जल आदि रसों का ग्रहण करता है उस अंग को, सूर्य की किरण को 'कर' कह देते हैं। इन सब–हाथ, टैक्स तथा किरण आदि अर्थों में एक समानता है। यह समानता धातु प्रतिपादित अर्थ के अनुसार पाई जाती है। वस्तु को ग्रहण करने के साधन होने के कारण इन सब को 'कर' कह दिया जाता है। पाठकवृन्द इस उदाहरण से हमारे अभिप्राय को पूर्णतया समझ गए होंगे। इसी विचार से शब्दों को यौगिक, धातुज् कहा जाता है। महर्षि यास्काचार्य ने प्रत्येक वैदिक शब्द को यौगिक स्वीकार किया है।[1] एवमेव हमें यज्ञ शब्द का अर्थ जानने के लिये भी पहले यज्ञ शब्द की धातु देखनी चाहिये। यज्ञ शब्द 'यज' धातु से बना है। यह धातु, देव पूजा, संगतिकरण, तथा दान अर्थ में प्रयुक्त होती है। अर्थात् देवों की पूजा करना; मिलना, जुड़ना. परस्पर इकट्ठे होना; तथा दान करना आदि यज धातु के अर्थ हैं। यह सब क्रियाएँ जिस कार्य में एक साथ पाई जाती हों उसे यज्ञ कहते हैं। परंतु यदि हम और अधिक ध्यान से विचार करें तो हम देखेंगे कि इन

1. नामान्याख्यातजानीति शाकदायनो नैरुक्तसमयश्च।–निरुक्त 1–11

तीनों क्रियाओं का परस्पर एक विशेष संबंध है। उस संबंध विशेष से संबंध क्रिया समूह को 'यज्ञ' नाम से पुकारा जाता है। 'देवपूजा' शब्द द्वारा यज्ञ का उद्देश्य बताया गया है, 'संगति करण से यज्ञ की मुख्य क्रिया जतलाई गई है तथा 'दान' से यज्ञ का साधन बताया है। इस बात को दृष्टि में रखते हुए हम यज्ञ शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से कर सकते हैं–**"देवों की पूजा के उद्देश्य से त्याग पूर्वक जो मेल मिलाप, संगठन आदि कार्य किये जाते हैं, उन्हें यज्ञ कहते हैं।"** जिस समय किसी पवित्र उच्च उद्देश्य 'देव पूजा' की प्राप्ति के लिये अपने तन, मन, वा धन का त्याग, बलिदान या विसर्जन किया जाता है, अर्थात् त्याग को उद्देश्य के साथ मिलाया जाता है, संगत किया जाता है तो उस संगतिकरण रूप क्रिया का नाम यज्ञ है।

यदि हम यज्ञ को पुरुष समझ लें तो उस यज्ञ पुरुष की आत्मा देव पूजा है, शरीर संगतिकरण है तथा प्राण, मन बुद्धि और इन्द्रियाँ दान रूप हैं। शरीर रूप संगतिकरण–संगठित कार्य–तभी जीवित रह सकता है जबकि उसके आत्मा-देवपूजा-की उस शरीर में प्रतिष्ठा रहे और प्राण, मन, बुद्धि वा इन्द्रियाँ–दान–यथोचित कार्य करती रहें। इस प्रकार पाठक गण अच्छी तरह समझ सकते हैं कि यज्ञ का मुख्य रूप संगतिकरण मेल, मिलाप, संगठन व सामूहिक कार्य है। इस के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ को कर्म-काण्ड किस लिए कहा जाता है। किसी पवित्र उद्देश्य (देव-पूजा, या दिव्य गुणों को धारण करना) से त्यागपूर्वक (फल की स्पृहा का त्याग करके, निष्काम भावना से) जो भी कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्म यज्ञ कहलाते हैं। यज्ञ कर्मकाण्ड रूप है। परंतु उस यज्ञ की आत्मा (Spirit) ज्ञान है। प्रत्येक यज्ञकर्ता यजमान को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि वह अमुक कार्य (यज्ञ) किस उद्देश्य

से, किस देव की पूजा के लिए, कर रहा है। बिना उद्देश्य से, किस देव की पूजा के लिए, कर रहा है। बिना उद्देश्य-ज्ञान के किए हुए कर्म (यज्ञ) विनाशक होते हैं। जिस प्रकार यदि किसी इंजन में पूरी शक्ति भर कर उसे निरुद्देश्य छोड़ दिया जावे तो वह जहाँ-जहाँ पहुँचेगा वहाँ-वहाँ नाना तरह के उपद्रव उत्पन्न कर देगा उसी प्रकार बिना किसी उद्देश्य के, बिना किसी विचार के यज्ञ की शक्ति भी विनाशक होती है। प्रत्येक कर्म (यज्ञ) ज्ञान (विशेष उच्च उद्देश्य) पूर्वक करना चाहिए। ज्ञान और कर्म का परस्पर अत्यन्त घनिष्ट संबंध है। ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में जीवन तत्व (Life-philosophy) की शिक्षा देते हुए कहा है-

**अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।**
**ततो भूय इवे ते तमो य उ विद्यायाछंरताः॥**
**अन्येदवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।**
**इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥**
**विद्यांचविद्यां च यस्तद्वेदोभयछंसह।**
**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥**

यजु० 40.9-11

अर्थात् ज्ञान (विद्या) और कर्म (अविद्या) स्वतन्त्र रूप से विनाशक होते हैं, परंतु ये दोनों परस्पर मिलकर कष्ट से बचाने वाले तथा अमृत प्रदान करने वाले हैं। भारतवर्ष में जिस समय यज्ञ (कर्मकाण्ड) बिना उद्देश्य तथा विचार (ज्ञानकाण्ड) के किये जाने लगे, उसी समय से वे समाज की उन्नति में बाधक सिद्ध हो रहे हैं। परंतु ज्ञानपूर्वक कर्म भी तब तक सफलता पूर्वक नहीं किये जा सकते, जब तक कि मनुष्य अपनी इच्छाओं का, सुखों का त्याग कर दे, अपने आप को उच्च उद्देश्य-देवपूजा के लिए समर्पित न कर दे। किसी उच्च उद्देश्य

का ज्ञान रखते हुए उस की प्रप्ति के लिये कर्म के तथा आत्म समर्पण (उपासना) भी अनिवार्य है।

यज्ञ तत्व को समझ लेने के बाद पाठकवृंद इस बात को भली-भाँति जान गए होंगे कि ज्ञान, कर्म तथा आत्म-समर्पण (उपासना) भी यज्ञ के अंग हैं। इस कारण ज्ञान-काण्ड के प्रतिपादक ऋग्वेद को, कर्मकाण्ड के प्रतिपादक यजुर्वेद को तथा उपासनाकाण्ड के प्रतिपादक सामवेद को अर्थात् नयी विद्या को यज्ञमय या यज्ञमूलक कहने की सचाई को भी समझने में उन्हें कोई कठिनता न होगी। 'सब वेद मंत्रों का विनियोग यज्ञ परक है' इस स्थापना को यज्ञवस्तु के गूढ़ तत्व को पूर्णतया जान लेने के उपरान्त ही हम समझ सकते हैं। अस्तु,

यज्ञ के अंगों-देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की व्याख्या करते हुए सम्भवतः हम दूर तक चले गए हैं। अब हम फिर प्रकरण पर आते हैं। अब हमें यह विचारना है कि यज्ञ के उपर्युक्त लक्षण के अनुसार यज्ञ के क्या अर्थ हैं। यज धातु से कर्ता, कर्म तथा करण अर्थ में प्रत्यय करने से यज्ञ शब्द के पाँच अर्थ मुख्य हैं-

1. परमात्मा यज्ञ है।
2. यह संसार यज्ञ है।
3. संगठित मनुष्य समुदाय यज्ञ है।
4. मनुष्य जीवन यज्ञ है।
5. मनुष्य का प्रत्येक शुभ कर्तव्य कर्म भी यज्ञ है।

(1) यज्ञ शब्द का सब से मुख्य अर्थ तो यज धातु से कर्म में प्रत्यय करने से होता है, परंतु अन्य अर्थों में भी यज्ञ शब्द का प्रयोग वेदों में पाया जाता हे। ऋग्वेद 10.90.7 में लिखा है-**'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।'** अर्थात् उस सब से पूर्व विराजमान यज्ञ रूप पुरुष-परमात्मा को ऋषियों ने

अपने हृदयों में स्थापित किया। उन्होंने परमात्मा का ध्यान किया। अगले मंत्रों में उसी यज्ञ रूप परमात्मा से सृष्टि तथा वेदों की उत्पत्ति बताई है। समस्त जीवों को अपने-अपने पूर्व कर्मों के अनुसार फल देने के पवित्र उद्देश्य से परमात्मा ने सूर्य, वायु, जल, पृथिवी आदि पञ्चभूतों में अपनी शक्ति को भिन्न-भिन्न रूप में प्रदान करके उन्हें यथोचित रूप में जोड़ कर, मिलाकर, संगठित करके इस संसार को उत्पन्न किया है। इस कारण परमात्मा यज्ञ है। वह अत्यधिक महान् रूप में संगति करने वाला है। उस में संगति-करण अथवा यज्ञ की पराकाष्ठा है। अथर्ववेद में लिखा है-**'यज्ञोयत्र पराक्रान्तः'** जिस प्रकार अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वायु आदि के गुणों की परमात्मा में पराकाष्ठा होने के कारण परमात्मा को अग्नि, आदित्य, चन्द्र तथा वायु आदि नामों से भी पुकारा जाता है, उसी प्रकार उस में यज्ञ की पराकाष्ठा हो जाने से 'यज्ञ' भी उसका नाम पड़ गया है।

(2) संसार भी एक महान् यज्ञ है। भारतीय दर्शनकारों ने भोग और अपवर्ग की प्राप्ति ही संसार की उत्पत्ति का कारण बताया है। मनुष्य इस संसार में अपने पूर्वकृत कर्मों के उपभोग के लिए तथा भविष्य में संसार के कर्मबन्धनों से मुक्त होने के लिये, मोक्ष प्राप्ति के लिये उत्पन्न होता है। संसार के प्राणियों को भोगापवर्ग के लिये अवसर देना ही सृष्ट्युत्पत्ति का परम उद्देश्य है। यही इस संसार का देव पूजन है। इस देवपूजा के लिए ही इन पाँच भौतिक पदार्थों का संगतिकरण इस संसार में हो रहा है। यह संसार अटल शाश्वत नियमों द्वारा भली-भाँति जुड़ा हुआ है। प्रत्येक ग्रह, नक्षत्र, चन्द्र, तारे प्रभृति किन्ही विशेष नियमों में बँधे हुए गति कर रहे हैं। इस ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ एक-दूसरे के पूरक हैं। चन्द्रमा सब पदार्थों में रस पहुँचाता है। सूर्य इस का परिपाक करता है। पृथिवी उसका

पोषण करती है। प्रत्येक तत्व एक दूसरे से मेल, जोड़ कर रहा है। जब तक यह मेल, संगतिकरण विद्यमान रहता है, सृष्टि की सत्ता बनी रहती है। उसके अभाव में प्रलय हो जाता है। जिस प्रकार एक मशीन में भिन्न-भिन्न पुर्जों का संगतिकरण हो रहा होता है, मशीन का एक-एक पुर्जा एक-दूसरे के कार्य का सहायक होता है, उसी प्रकार यह संसार एक दृष्टि से एक महान् विस्तृत तथा अद्‌भुत मशीनरी है, जिसमें सब सूर्य चन्द्र आदि पदार्थ एक दूसरे के कार्यों की कमी के पूरक हैं। जहाँ प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थ से कुछ लेता है, वहाँ साथ ही वह अपने गुणों को दूसरों को प्रदान कर रहा होता है। इसी प्रकार इस संसार में भी जीवों को भोगापवर्ग की प्राप्ति करने के पवित्र उद्देश्य से त्यागपूर्वक संगतिकरण रूप कार्य हो रहा है। अतएव संसार भी यज्ञ है। परंतु यज्ञ का करने वाला यजमान परमात्मा है।

(3) संगठित मनुष्य समुदाय भी यज्ञ है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी (Social being) है। मनुष्य स्वभाव से समाज का इच्छुक है। वह एकाकी अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्त को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा करनी ही पड़ती है। कोई भी प्राणी समाज की नितान्त उपेक्षा नहीं कर सकता। अतएव परमात्मा ने मनुष्य में संगति करण की स्वाभाविक प्रवृत्ति उत्पन्न की है। इसी संगतिकरण की इच्छा को देखते हुए अथर्व वेद के 'केन सूक्त' (अथर्व० 10.2) में प्रश्न किया है- **'को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पुरुषे।'** अर्थात् किस शक्ति ने पुरुष में 'यज्ञ' को स्थापित किया है। मनुष्य में यह नैसर्गिक गुण है। इसी भाव को गीता में अत्यधिक स्पष्ट तथा उत्तम शब्दों में कहा है-

**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्**

गीता० 3.10

"परमात्मा ने यज्ञ (संगति की प्रवृत्ति) सहित प्रजाओं को उत्पन्न कर के उन से कहा कि तुम यज्ञ द्वारा जो कुछ चाहो उत्पन्न करो। यह यज्ञ तुम्हारी सब अभिलषित कामनाओं को पूर्ण करने वाला होवे।"

मनुष्य में यह यज्ञ शक्ति स्वभावसिद्ध है। इस अन्तर्गूढ़ शक्ति को समझ कर यदि सब मनुष्य संगतिकरण करके, संगठित होकर किसी वस्तु की कामना करेंगे तो वह अवश्य सफल होगी। यह यज्ञ शक्ति 'ईष्टकामधुक्' है—सब अभिलषित कामनाओं को पूर्ण करने वाली है। जिन उद्देश्यों वा इच्छाओं को मनुष्य एकाकी प्राप्त नहीं कर सकता वे सब उद्देश्य वा इच्छाएँ संगठित हो कर प्रयत्न करने से पूर्ण की जा सकती हैं। प्रथम दो यज्ञों का कर्ता यजमान परमात्मा है। परंतु इस तीसरे यज्ञ का कर्ता मनुष्य स्वयं है। इसलिये इस यज्ञ को हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। मनुष्य जाति की जितनी संगठित संस्थाएँ (Organised Bodies) हैं वे सब यज्ञ हैं। शिक्षणालय यज्ञ है। संग्राम यज्ञ है। एवमेव राष्ट्र, आर्य समाज, पशुहितकारिणी आदि सभी संस्थाएँ यज्ञरूप हैं। ये सब संस्थाएँ संगठित होकर, संगतिकरण करके, अपने-अपने देव की पूजा के लिए, पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए, त्याग पूर्वक कार्य करने वाली हैं। परंतु प्रत्येक संगठित कार्य यज्ञ नहीं कहलाता। बिना त्याग व दान के संगठन तो हो ही नहीं सकता। दान तो संगतिकरण का, यज्ञ का, प्राण है। परंतु जिस भावना (spirit) से, उच्च पवित्र उद्देश्य से, संगठन करना चाहिये, यदि वह पवित्र भावना नहीं रहती तो यज्ञ की आत्मा नष्ट हो जाती है। यज्ञ का यज्ञत्व जाता

रहता है। चोरों का संगठन यज्ञ नहीं कहला सकता। यदि कुछ व्यक्ति दूसरों का भोजन छीनने के लिए, उन्हें क्षीण (exploit) करने के लिए किसी व्यापारिक कंपनी का आयोजन करते हैं या किसी देश के निवासी अन्य देशवासियों को अपना स्वार्थ (interest) सिद्ध करने के लिये संगठित होकर पादाक्रान्त करते हैं, तो उन का संगठन भी यज्ञ नाम से नहीं पुकारा जा सकता। ऐसे संघ (Organisation) को यज्ञ नाम से पुकारना यज्ञ वस्तु के तत्व को न समझना है। इस के विपरीत पवित्र उद्देश्य से किये हुए हिंसापूर्ण संग्राम भी यज्ञ शब्द वाच्य हो सकते हैं। यदि कोई राजा प्रजा की रक्षा की दृष्टि से दस्युओं का हनन करता है तो उसका वह कार्य यज्ञमय है। आज कल भारतवासी स्वराज्य प्राप्ति के लिए जो संग्राम कर रहे हैं, उसे तो एक पवित्र यज्ञ समझना ही चाहिये। इस में तो बजाय दूसरों की हिंसा करने के, योद्धा लोग आत्म-आहुति का संकल्प करके शान्तिमय उपायों से संग्राम कर रहे हैं। त्याग, दान व बलिदान से यज्ञाग्नि कितनी अधिक प्रदीप्त होती है, इस बात को पाठकगण आधुनिक संग्राम से समझ सकते हैं। इस संग्राम में भारत माता ने अपने सैंकड़ों वीर पुरुषों की बलि चढ़ाई है। शहीदों के खून का एक-एक कतरा सैंकड़ों वीरों की नसों में खून उबालने वाला होता है, यज्ञ का विस्तार करने वाला होता है। देवों ने इसी यज्ञ–वामनावतार–द्वारा सम्पूर्ण भूमि को असुरों से जीत लिया था। आज भी संसार के एक उच्चतम देव ने इस संग्राम-यज्ञ द्वारा अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने का पवित्र संकल्प किया है। 'अदिति' (अदीनता) को वेदों में देवमाता कहा गया है। यह स्वराज्य संग्राम तो देवताओं की माता 'अदिति' की पूजा करने के लिए प्रवृत्त होने के कारण अत्यन्त प्रशस्त यज्ञ है। बड़े-बड़े महान् पुरुषों के बलिदान ने तो इस

यज्ञ की सुगन्ध को और भी अधिक बढ़ा दिया है, इससे यज्ञ और भी अधिक पुष्ट हो गया है–

**त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।**

यजु० 3.60

एवमेव आर्य समाज एक पवित्र यज्ञ है। वरुण (सत्य) अर्यमा (त्याग) तथा मित्र (प्रेम) प्रभृति सद्‌गुणों की शिक्षा का प्रचार करने के लिए, और मनुष्य समाज को अन्ध विश्वासों, कुरीतियों तथा अन्यान्य समाजविघातक दस्युओं से बचाने के पवित्र उद्देश्य से आयोजित आर्यसमाज का संगठन एक पवित्र यज्ञ है। त्याग के बलिदान का संकल्प करके जितनी अधिक संख्या में मनुष्य इस यज्ञ में प्रवृत्त होंगे उतना ही अधिक यह यज्ञ चमकेगा। आर्य समाज की असली बुनियाद तो उस के संस्थापक, नवयुग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी सरस्वती की आत्मबलि पर ही स्थित है। जब तक वरुण आदि देवों की पूजा के लिए तन मन धन स्वाहा कर देने वाले वीरों की स्थिति दुनिया में रहेगी तब तक यह यज्ञ चलता रहेगा। इस में यज्ञ की भावना करने की आवश्यकता है। हमें पारस्परिक द्वेष भावों को भुलाकर महर्षि दयानन्द जी सरस्वती की तरह देवपूजा के लिए, अपनी तथा मनुष्य समाज की उन्नति के लिए, अपने को स्वाहा कर देना चाहिए। तभी हम महर्षि दयानन्द जी सरस्वती द्वारा संचालित इस पवित्र यज्ञ को प्रज्वलित रख सकते हैं।

इसी तरह शिक्षणालयों को तथा पवित्र उद्देश्य से संचालित अन्य संस्थाओं, तथा, सभा सोसाइटियों को यज्ञ समझना चाहिये। प्रत्येक का जीवन दान पर, त्याग पर अवलम्बित है। प्रत्येक यज्ञ की दुहिता–सफलता देने वाली–दक्षिणा या कृतज्ञतायुक्त त्याग ही है।

अस्तु, इन उदाहरणों से पाठक हमारे अभिप्राय को समझ

गए होंगे। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि देवपूजा के विचार से त्याग पूर्वक जितने भी संगठन रूप में कार्य किए जाते हैं, वैदिक परिभाषा में उन्हें 'यज्ञ' कहते हैं। इस प्रकार सब यज्ञों में देवपूजा उद्देश्य है, और दान साधन है। दान इन यज्ञों-संगतिकरणों का प्राण है और देवपूजा आत्मा है। जिस प्रकार प्राण तथा आत्मा के बिना शरीर जीवित नहीं रह सकता, इसी प्रकार दिव्य भावना तथा त्याग के बिना यज्ञ जीवित नहीं रहता। प्रजापति परमात्मा ने हमें सब अभिलषित कामनाओं को पूर्ण करने वाली यज्ञ रूपी कामधेनु दी है। इस से हम सब प्रकार की कामना पूर्ण कर सकते हैं। अतएव मनुष्य को अपने अन्तर्निहित यज्ञ शक्ति को जागृत करना चाहिये।

मनुष्य समाज के आश्रय पर जीवित रहता है। समाज में सीखता है, और उन्नति करता है। वह समाज का ऋणी है। प्रत्येक मनुष्य अपने माता, पिता, गुरुजनों, सहपाठियों, पड़ोसियों तथा भूतकालीन अनुभवों एवं तत्कालीन परिस्थितियों के द्वारा ही अपने विचारों को बनाने में समर्थ होता है। यदि मनुष्य अपने से अभिमान को दूर करके इस बात पर विचार करेगा तो वह इसे अवश्य स्वीकार करेगा। इसलिए मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह समाज की जहाँ तक सेवा कर सकता है, करे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यतानुसार समाज सेवा करना अपना उद्देश्य बनाना चाहिये। इस से मनुष्य केवल समाज के ऋण से मुक्त ही नहीं होता प्रत्युत वह अपने को भी उन्नत तथा सुखी बनाता है। समाज की उपेक्षा करके मनुष्य अपनी उन्नति नहीं कर सकता। सब महान् पुरुषों ने इस तत्व को समझा है। महात्मा बुद्ध, महात्मा ईसा मसीह, महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रभृति महान पुरुषों ने प्रारम्भ में जीवन तत्व को समझते हुए, तदनुसार लोक सेवा करते हुए ही अपने को इस

उच्च शिखर तक पहुँचाया है। यदि किसी पुरुष के पड़ोस में सदा गंदगी रहती है, सफाई नहीं होती हो तो उस पुरुष की केवल अपने घर की सफाई उसके स्वास्थ्य में कहाँ तक सहायक हो सकती है।

यद्यपि लोक सेवा करते हुए मनुष्य को कष्ट होंगे उसे अपने सुखों को त्यागना पड़ेगा, आराम नहीं मिलेगा तथापि इस सुख एवं आराम के बलिदान से ही मनुष्य का आत्मा विशाल तथा उन्नत होगा। संगति करण या संगठन यज्ञ में सम्मिलित पुरुष को अपने राष्ट्र तथा समाज की मांग के अनुसार अपने तन मन तथा धन का त्याग करना पड़ता है। यज्ञ के ऋत्विजो–नेताओं–के आदेशानुसार अपने छोटे स्वार्थों को भुलाकर परार्थ के लिए, बड़े स्वार्थ के लिए सम्पत्ति, समय एवं सुख को यज्ञार्थ बलि चढ़ाना होता है। 'इदमग्नये (ज्ञानयज्ञाय) इदं न मम', 'इदं इन्द्राय (राष्ट्रयज्ञाय) इदं न मम' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए स्वार्थों का स्वाहा करने से शनैः 2 मनुष्य सर्वभूतात्मवान् हो जाता है, प्राणिमात्र को अपना आत्मा समझता है। इस उच्च पद का लाभ करके वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए यत्नवान् नहीं रहता, उसे अपने लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता है और फलतः वह सुख दुःख आदि द्वंदों से ऊपर उठ जाता है–**'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'** अत एव यदि प्रत्येक पुरुष वेद के निम्न आदेशानुसार संगठन यज्ञ में सम्मिलित होकर एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी शक्ति को लगा दे, अपना भाग (share) देता रहे तो जहाँ संगठित समाज में नवीन शक्तियों का विकास होगा, वहाँ यज्ञ में सम्मिलित होने वाले पुरुष का अपना भी कल्याण होगा। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त में लिखा है–

**संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
**देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।।**

हे पुरुषो! संगतिकरण करो। मिल कर विचार करो। तुम में परस्पर साम्मनस्य हो, वैमनस्य तथा द्वेष न हो। जिस प्रकार( संसार यज्ञ में) सूर्य, चन्द्र, वायु आदि देव अपना-अपना हिस्सा बटाते हैं, उसी प्रकार तुम भी (संगठन यज्ञ में) एकमत होकर अपना-अपना हिस्सा दो।

पुरुष समाज की उन्नति का रहस्य इसी यज्ञ में निहित है।

(4) मनुष्य-जीवन भी एक यज्ञ है। संसार एक सुव्यवस्थित विराट् शरीर (macrocosm) है और मनुष्य का शरीर संसार की छोटी प्रतिमा (microcosm) है। भेद इतना है कि विराट् शरीर का संचालन करने वाली शक्ति परमात्मा है और इस छोटे शरीर का संचालक यह जीवात्मा है। जिस प्रकार विराट् शरीर में अग्नि, वायु चन्द्र आदि देवताओं के साथ परमात्मा या ब्रह्म निवास करता है, उसी प्रकार इन्द्रिय आदि रूप में परिणत हुए देवता जीवात्मा के साथ इस शरीर में निवास करते हैं। 'जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डे' की दृष्टि से पुरुष को भी वेद में ब्रह्म कहा गया है-

**तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।**
**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते।।**

अथर्व० 11.8.32



मनुष्य जीवन का रूप क्या है? शरीर की प्राण आदि शक्तियों का ठीक-ठीक जुड़े रहना, उनके पारस्परिक संबंधों का न टूटना तथा संसार से संबंध न टूटना ही जीवन है। जिस समय किसी दैवी आपत्ति या रोग आदि से यह संबंध टूट जाता है तब इस यज्ञ का ध्वंस हो जाता है। प्राण तथा इन्द्रिय आदियों के संगतिकरण का नाम ही यज्ञ है। परंतु यह संगतिकरण बिना दान के नहीं चल सकता। शरीर के प्रत्येक अवयव का कार्य खाए हुए पदार्थ का परिपाक करके उसे आगे पहुँचा देना है।

मुख का काम अन्न को चबा कर आमाशय में भेज देना है। आमाशय का कार्य अन्न को पचा कर ग्रहणी में भेज देना है। ग्रहणी (Small intestine) का कार्य आमाशय से आये हुए अन्न का पूर्ण पाचन कर उस से रस लेकर उसे आगे कर देना है। हृदय का कार्य रक्त को लेकर शुद्ध करके फिर से शरीर में दे देना है। इसी प्रकार यकृत्, प्लीहा, वृक्क तथा अन्यान्य अंगों का कार्य है। यदि उन में से कोई भी अंग अपना कार्य करके उस रस को अगले अंग के लिए प्रदान न कर दे, तब एक तो वह अपनी शक्ति को नष्ट कर बैठता है और साथ ही जीवन यज्ञ को संकट में डाल देता है। यदि मुख, आमाशय, ग्रहणी या बड़ी आंतें अपने-अपने कार्य को न करें और उस अन्न को आगे न भेजें तो वह अन्न वहीं पर पड़ा 2 सड़ता रहेगा और सब से प्रथम उसी अंग पर बुरा प्रभाव उत्पन्न करेगा तथा शनैः शनैः वह शरीर-व्यापी होकर प्राणन्तक भी हो सकता है। यदि हृदय भी किसी दिन अपने कार्य से जबाब दे दे तब तो यह जीवन-यज्ञ एकदम समाप्त हो जावे। जीवन रूपी संगति करण के लिए दान नितान्त आवश्यक है। परंतु यह संगतिकरण किसी देव पूजा के लिये होना चाहिये। इस यज्ञ का उद्देश्य स्वार्थ-इन्द्रियों का भोग-ही न होना चाहिये। यदि स्वार्थ सिद्धि के लिए ही, इन्द्रियों के आराम के लिए ही शरीर संगठन किया जायगा तो वह यज्ञ नहीं कहा जा सकता। परार्थ किंवा देवपूजा के बिना शरीर संगठन में भी आत्मा की प्रतिष्ठा नहीं होती। मनुष्य के जीव का उद्देश्य आत्मिक उन्नति है—**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।**' यही जीवन—यज्ञ में देवपूजा है।

प्राणाग्निहोत्र उपनिषद् में शरीर यज्ञ की व्याख्या करते हुए उसे बाह्य यज्ञ के रूप में वर्णन किया है—

**अस्य शरीरयज्ञस्य आत्मा यजमानः बुद्धिःपत्नी। अहंकारो**

**अध्वर्युः। चित्तं होता। प्राणो ब्राह्मणाच्छंसीः। अपानः प्रतिप्रस्थाता। व्यानः प्रस्तोता। उदान उद्गाता। समानो मैत्रावरुणः। शरीरं वेदिः। नासिकोत्तर वेदिः। ओंकारो यूपः। आशा रशना। मनो रथः। कामः पशुः। केशा दर्भाः। बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि। कर्मेन्द्रियाणि हवींषि। अहिंसा इष्टयः। त्यागो दक्षिणा। अवभृथं मरणात्। सर्वा ह्यस्मिन् देवता शरीरेऽधिसमाहिताः।।४।।**

5. प्रत्येक कर्तव्य कर्म भी यज्ञ शब्द वाच्य है। इस अर्थ में यज्ञ शब्द का प्रयोग गौणी वृत्ति से है। जो कर्म यज्ञार्थ किये जाते हैं, उन्हें यज्ञ नाम से पुकारा जा सकता है। संस्कृत में जल को 'जीवन'नाम भी दिया गया है; क्योंकि यह जीवन का अतिशय साधकतम है। बिना जल के जीवन स्थित नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो कर्म यज्ञ के लिए अतिशय साधकतम हैं वे भी यज्ञ शब्द वाच्य हैं। इसी अर्थ में गीता में कृष्ण भगवान् ने तप, योग, स्वाध्याय तथा ज्ञान को भी यज्ञ कहा है। यदि मनुष्य प्रत्येक व्यवहार संगति करण देवपूजा के लिए करे, ब्रह्मार्पित होकर सब कार्य करे तो मनुष्य का प्रत्येक कर्म यज्ञ कहा जा सकता है। परंतु ऐसी देव पूजा के हेतु व्यवहार करने के लिए त्याग की भावना को मन में दृढ़ करना होगा, विषयों की अभिलाषा को छोड़ना होगा। विषयों का निरंतर ध्यान करते रहने से मनुष्य को उन में आसक्ति पैदा हो जाती है। मनुष्य का मन सदा विषय भोग का चिंतन करता रहता है। वह देवपूजा के लिए, सब देवों के देव जगदीश्वर की पूजा के लिए कर्म नहीं कर सकता। सांसारिक प्रलोभनों में फँसा हुआ पुरुष परमात्मा की भक्ति के सर्वथा अयोग्य हो जाता है। उसे विषयों में ही सुख प्रतीत होता है। देवपूजा के लिए, परमात्मभक्ति के लिए सब कार्य करने का मुख्य साधन त्याग है। यजुर्वेद में जीवन की फिलासफी पर विचार करते हुए लिखा है– **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।**

अर्थात् मनुष्य को त्याग पूर्वक भोग करना चाहिये। यदि हम अनासक्ति पूर्वक भोग करना सीख लेंगे तो अपनी इन्द्रियों का संयम करते हुए जीवन यज्ञ अथवा संगठन यज्ञ को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकेंगे।

## यज्ञ का बाह्य रूप

यज्ञ वस्तु के तत्व का, यज्ञ के आत्मा का स्वरूप पाठक वृन्द भली-भाँति समझ गए होंगे। परंतु आज कल हमारे सामने यज्ञ का जो स्वरूप आता है वह उस का बाह्यरूप ही है। हमने यज्ञ के आत्मा को नहीं समझा अतएव यज्ञ का बाह्यरूप, शरीर मात्र विशेष आकर्षक अथवा फलप्रद प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार आत्मा की शक्ति का प्रकाश शरीर द्वारा होता है, उसी प्रकार यज्ञ के आत्मा को भी किसी शरीर की बाह्य रूप की आवश्यकता है। देवपूजा, संगतिकरण तथा त्याग की भावनाओं को मनुष्य मात्र में सदा जाग्रत् रखने के लिए सदा किसी न किसी मूर्त, दृश्य रूप की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार अक्षरों द्वारा विचार को मूर्त रूप दिया जाता है अथवा भूगोल के नक्शों द्वारा पृथिवी की वास्तविक स्थिति को प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार प्राचीन आर्य पुरुषों ने देवपूजा, संगतिकरण तथा दान की भावनाओं को मूर्त शरीर देने के लिए प्रचलित यज्ञ प्रथाओं का प्रचार किया था।

यज्ञ के मुख्यत: दो विभाग किये जा सकते हैं- 1. वैयक्तिक यज्ञ तथा 2. सामाजिक यज्ञ।

**वैयक्तिक यज्ञ:**-इस यज्ञ में मूर्त शरीर की इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी सामाजिक यज्ञ में होती है। अतएव वैयक्तिक यज्ञों की बाह्य कर्म काण्ड की-विधि ऐसी जटिल नहीं, जितनी सामाजिक यज्ञों की। वैदिक शास्त्रों में पाँच महायज्ञ बताये गए हैं, जिनका संबंध सीधा वैयक्तिक उन्नति से

है। वे क्रमशः भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ हैं। इन यज्ञों द्वारा मनुष्य को पाँच सत्ताओं से अपना यथोचित संबंध—संगतिकरण—जोड़े रखने के लिए उपदेश दिया गया है।

**भूतयज्ञः**—इस यज्ञ द्वारा अपने से छोटे प्राणियों के साथ संबंध स्थापित करने का आदेश दिया गया है। मनु महाराज ने इन छोटे प्राणियों को निम्न छः विभागों में विभक्त किया है।

1. पतित (मनुष्य)
2. श्वपच (मनुष्य)
3. पाप रोगी (मनुष्य)
4. श्वा (पशु)
5. वायस (पक्षी)
6. कृमि (कीट आदि)

इन छः विभागों के अनुसार विधि यह है कि प्रत्येक गृहस्थ को भोजन से पूर्व 6 ग्रास बाहिर निकाल कर रख देने चाहियें। उक्त प्राणियों में प्रथम तीन तो हीन अवस्था को पहुँचे हुए मनुष्य ही हैं। जो मनुष्य समाज की किन्ही अवस्थाओं से दुष्काल पीड़ित, दुःखी वा रोगी हैं वे हीनावस्थापन्न-पतित-कहलाते हैं। जो अपने धर्म से बहुत गिर गए हैं, कुत्तों इत्यादि का भक्षण करते हैं, वे 'श्वपच( कहलाते हैं। सिफलिस, गनोरिया, प्रभृति पापरोगों से ग्रस्त पुरुष पाप-रोगी कहलाते हैं। इन तीन प्रकार के मनुष्यों के अतिरिक्त नीच से नीच पशु कुत्ता आदि, नीच से नीच पक्षी कौआ आदि तथा कृमियों की रक्षा करना, उनके तथा संगतिकरण-संबंध करना या उनके लिए त्याग करना भूतयज्ञ है। भोजन के पूर्व छः ग्रास बाहिर निकाल रखने का अभिप्राय केवल इस भावना को सदा जाग्रत् रखना है कि आवश्यकता पड़ने पर पहले इन छः भूतों के लिए

त्याग मेरा कर्तव्य है तदनन्तर ही मैं भोग का अधिकारी हूँ– यह भूतयज्ञ है।

**मनुष्य यज्ञ**–इस का दूसरा नाम अतिथि यज्ञ भी है। जब किसी गृहस्थ के घर कोई अतिथि आ जावे तो सत्कार तथा श्रद्धा पूर्वक उस को भोजन कराके तदनन्तर स्वयं भोजन करे, **'तस्मात्-पूर्वो नाश्नीयात्**। परंतु अतिथि से पूर्व भोजन न करे। क्यांकि यज्ञ का आत्मा तभी जीवति रहता है, जब अतिथि के भोजन कर चुकने के बाद खाया जावे।

**–अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्**।। अ० 9.6.8

'पहले दूसरे फिर मैं' इस में यज्ञ के आत्मा का निवास है। इसी में देवपूजा एवं त्यागभावना अन्तर्निहित है। अब तक अतिथि सेवा भारतवर्ष का विशेष गुण (Characteristic Quality) रहा है। इसे हमें सदा सुरक्षित रखना चाहिये।

**पितृयज्ञ**–मनुस्मृति में माता, पिता आचार्य, अन्नदाता तथा भयत्राता को 'पितर' कहा है। इनकी नित्य सेवा-शुश्रूषा करते हुए श्रद्धापूर्वक भोजन आदि खिलाकर तदनन्तर भोजन करना पितृयज्ञ है। यही पितरों के लिए श्राद्ध हैं।

इन उपर्युक्त यज्ञों में अपने से छोटे, समान तथा बड़े प्राणियों की रक्षा या सेवा के लिए आदेश आया है। परंतु अगले दो यज्ञों में मनुष्य से उच्च शक्ति के साथ संबंध बनाये रखने के लिए आदेश है।

**देवयज्ञ**–इस यज्ञ द्वारा भौतिक देवों-जल, वायु सूर्य आदि को अपने अनुकूल बनाये रखने के लिए अग्निहोत्र किया जाता है। अग्नि में घृत सामग्री आदि हवि की आहुति देकर वायु शुद्धि तथा वर्षा आदि की प्राप्ति के लिए यह यज्ञ सम्पादित होता है। मनुष्य नित्य प्रति अपने श्वास प्रश्वास से, मलमूत्र

त्याग से वायु वगैरह को अपवित्र करता है, अतः उस का कर्तव्य है कि वह इन्हें पवित्र रखने के लिए, अपने अनुकूल बनाए रखने के लिए प्रातः सायं अग्निहोत्र करे। लोग आधी छटांक घी को अग्नि में आहुति देते हुए समझते हैं कि हम घी का नाश कर रहे हैं, परंतु यह उन की संकुचित दृष्टि है।

परार्थ में ही मनुष्य का वास्तविक स्वार्थ है, इस सत्यता को जान लेने के बाद इस थोड़े से त्याग के लिए उसका हृदय संकोच न करेगा।

**ब्रह्मयज्ञ**—इस यज्ञ द्वारा मनुष्य को सर्वोच्च शक्ति से अपना संबंध जोड़ना होता है। इस में ब्रह्म देव की पूजा के उद्देश्य से अपना त्याग करते हुए, आत्मसमर्पण करते हुए, परमात्मा से तादात्म्य-संगीतकरण-करना अथवा ब्रह्म में तन्मय हो जाना, ब्रह्म में लीन हो जाना कहते हैं। वह परमात्मा सब शक्तियों का अक्षय भण्डार है। उस से शक्ति प्राप्त करने के लिए सदा प्रभु का ध्यान करना चाहिए। इसी संध्या को, जपयज्ञ को कृष्ण भगवान् ने सब यज्ञों से उत्कृष्ट यज्ञ बताया है। अस्तु।

ये सब वैयक्तिक यज्ञ हैं, जो मनुष्य को प्रतिदिन स्वयं करने होते हैं। ये महा यज्ञ हैं। इन से ही मनुष्य महान् बनता है। आत्मिक उन्नति करते हुए मनुष्य सामाजिक सेवा के लिए अधिक योग्य सिद्ध हो जाता है।

**सामाजिक यज्ञः**—सामाजिक यज्ञ करने के लिए यज्ञकर्ता यजमान को समाज के अन्य मुख्य 2 व्यक्तियों की, ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। मुख्य ऋत्विक् चार होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता का कार्य यज्ञाग्नि में आहुति देना, उद्गाता का कार्य मन्त्रगान करना, अध्वर्यु का कार्य यज्ञ की सामग्री एकत्र करना तथा ब्रह्मा का कार्य इन सब का निरीक्षण करना होता है। सामाजिक कार्य एक आदमी से नहीं हो सकते। राष्ट्र यज्ञ में—राजसूय यज्ञ में भी चारों ऋत्विक् होते

हैं। यदि इसे आधुनिक परिभाषाओं में कहना चाहें तो राष्ट्र यज्ञ का कर्ता-यजमान-राजा होता है। राजा के भिन्न-भिन्न विभागों के सचिव्र उद्गाता कहे जा सकते हैं। ये सचिव अपने-अपने विभाग में बनाये जाने योग्य कानूनों एवं कर्मों की सलाह देते हैं। होता का कार्य ऋचाओं के अनुसार-कानून के अनुकूल यज्ञ में आहुति देना है; कानून को कार्य में परिणत (execute) करना है। यदि यज्ञ में—सामाजिक संगठन में—कहीं किसी वस्तु की, उपकरण की आवश्यकता हो उसे पूर्ण करना अध्वर्यु का कर्त्तव्य है—(**अध्वर्युः अध्वरं युनक्ति**)। ब्रह्मा का कार्य सब विषयों को समझते हुए सब का निरीक्षण करना है। उसे अर्थ-सचिव, पर राष्ट्र सचिव आदि सचिवों (उद्गाताओं) को अपना कार्य करने देना चाहिये। परंतु यदि कहीं पर कोई त्रुटि हो रही हो, सर्व सम्मत नीति (General Policy) से प्रतिकूल कार्य हो रहा हो तो उसे नियंत्रित करना ब्रह्मा का-प्रधान मंत्री का-कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार अन्य सब सामाजिक यज्ञों में ऋत्विजों का स्वरूप समझा जा सकता है। अग्नि कुण्ड के चारों और बैठ कर मंत्रोच्चारण पूर्वक घृत सामग्री की आहुति यजमान के कर्तव्यों को उद्बुद्ध करने के लिए दी जाती है। अग्नि सब प्रत्यक्ष दृश्यमान् तत्वों में सर्वश्रेष्ठ है। वह तेज:स्वरूप और सदा ऊर्ध्वगामी है। अपने में तेज तथा अग्रणी (अग्नि रग्रणी भवति) बनने की भावना उत्पन्न करने के लिए यजमान अग्नि प्रज्वलित करता है। यह यज्ञाग्नि कहलाती है। यज्ञ-संचालन के लिए अपने में तेज और ऊर्ध्वगामिता को धारण करना यजमान का प्रयोजन है। मंत्रों में यजमान के कर्तव्यों तथा यज्ञ के स्वरूप का वर्णन होता है। यज्ञ के क्रिया-कलाप द्वारा वास्तविक राष्ट्र यज्ञ आदि यज्ञों के कार्यों को चिह्न रूप (Symbol) में किया जाता है। घृत आदि आहुति तो यज्ञकर्ताओं को यज्ञाग्नि में अपनी आहुति दे देने की भावना का बोधक मात्र है।

इतने विस्तृत विवेचन के अनंतर पाठकगण, यज्ञ क्या वस्तु है, इस का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह भली-भाँति समझ गए होंगे। यज्ञ का स्वरूप जान लेने के बाद यज्ञ से सम्पूर्ण ज्ञान तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का रहस्य भी समझ में आ जाता है। **'अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः'** इस मंत्र का गूढ़ अभिप्राय समझने में कठिनता नहीं रहती। यज्ञ का महत्व अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। यज्ञ के वस्तु-तत्व का पूर्ण बोध हो जाने के उपरान्त अगले दो विषयों की विशेष व्याख्या की आवश्यकता नहीं रहती।

## 2. यज्ञ की दुहिता या पुरोगवी दक्षिणाः

यज्ञ वस्तु का विवेचन करते हुए यह हम बता चुके हैं कि देवपूजा के लिए त्याग पूर्वक संगतिकरण को ही यज्ञ कहते हैं। देवपूजा उद्देश्य है, संगति करण कार्य है तथा त्याग साधन है। त्याग यज्ञ का साधकतम करण है। बिना त्याग वा दान के यज्ञ-संगतिकरण की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यज्ञ की कामना हो तो उसकी पूर्ति के लिए सब से प्रथम मनुष्य को त्याग करना होगा। यह दक्षिणा यज्ञ की दुहिता है। दुहिता शब्द 'दुहप्रपूणे' से बना है। यज्ञ की पूर्ति दक्षिणा से होती है।

इस दक्षिणा द्वारा ही यज्ञ को पुष्टि मिलती है। ब्राह्मणों में लिखा है-

**तद्यद्दक्षिणाभिर्यज्ञं दक्षयति, तस्माद्दक्षिणा नाम।**

कौषीतकी 15.1

**तं (यज्ञं) देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं दक्षिणाभिरद-क्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम॥**

शतपथ 2.2.2.2

"क्योंकि दान द्वारा ही यज्ञ को पुष्ट किया जाता है इसलिए दान को दक्षिणा कहा जाता है(1) देवताओं ने दक्षिणाओं

से (दान द्वारा यज्ञ को पुष्ट किया, अतएव इन को दक्षिणा कहा जाता है।" यह दक्षिणा वस्तुतः यज्ञ की दुहिता या 'दक्षयिता है। बिना दक्षिणा के यज्ञ सम्पन्न ही नहीं हो सकता। कुछ न कुछ दक्षिणा, दान या त्याग करना ही पड़ता है–**"यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यति तस्मादाहुर्दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवत्यल्पिकापि।** (ऐत० 6.25)। यद्यपि क्रियाकण्ड में यज्ञ, के उपरांत ऋत्विज्ञों को दक्षिणा दी जाती है, परंतु वस्तुतः यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व ही दक्षिणा की, त्याग की आवश्यकता होती है। संगठित व्यक्ति त्याग करके ही किसी संगठन–यज्ञ को प्रारम्भ कर सकते हैं। बिना इस के यज्ञ प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। यह दक्षिणा तो यज्ञ से आगे-आगे चलने वाली 'पुरोगवी' है।

## 3. दक्षिणा के बिना यज्ञ की हिंसा

उपर्युक्त दो स्थापनाओं को जान लेने पर इस की व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं रहती। यज्ञ का प्रारम्भ ही त्याग किंवा दक्षिणा पर निर्भर है। यदि हम 'आर्य समाज' के सदस्य सभा के लिये समय, सम्पत्ति वा सुख का त्याग न करें तो आर्य–समाज–रूप संगठन–यज्ञ निष्पादित ही नहीं हो सकता। जिस समय लोग इसके लिए स्वार्थ त्याग करना बंद कर देंगे यह यज्ञ उसी समय समाप्त हो जावेगा। राष्ट्र–यज्ञ भी दक्षिणा (कर के रूप में) के आधार पर चल रहा है। यदि सब प्रजाजन कर न देने का निश्चय कर लें, किसी रूप में सरकार के लिए त्याग न करें, उस से असहयोग कर लें तो एक दिन भी यह यज्ञ नहीं चल सकता। इस की हिंसा हो जाएगी। त्याग तो यज्ञ का प्राण है। इस के उत्क्रान्त हो जाने पर यज्ञ का प्रत्येक अंग विच्छिन्न हो जाता है, यज्ञशरीर नष्ट हो जाता है। दक्षिणा के बिना यज्ञ की हिंसा हो जाती है।

## 4. सूक्तों का विषय

प्रत्येक मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति वा सामाजिक अभिवृद्धि के लिए यज्ञ परम उपयोगी है। इसके बिना मनुष्य की उन्नति नहीं हो सकती। परंतु यज्ञ, विशेषत: सामाजिक यज्ञ, दक्षिणा के बिना नहीं चल सकता। दक्षिणा यज्ञ की दुहिता या पुरोगव है। प्रथम सूक्त का विषय 'प्रजापत्या दक्षिणा' या 'दक्षिणा दाता है। इस सूक्त में दक्षिणा को प्रजापत्या-प्रजापति की दुहिता कहा है। शतपथ ब्राह्मण में स्थान-स्थान पर 'प्रजापतिर्यज्ञः' ऐसा कहा है। प्रजा पालक हाने से यज्ञ को प्रजापति बताया है। दक्षिणा भी इसी प्रजापति-रूप यज्ञ की दुहिता है। अतएव प्रजापति को दुहिता दक्षिणा या दक्षिणा देने वालों का माहात्म्य समझने से पूर्व प्रजापति यज्ञ का ज्ञान होना अत्यावश्यक था, यह सोच कर हमने प्रारम्भिक विवेचन में यज्ञ-वस्तु के तत्व पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। यज्ञवस्तु का वास्तविक स्वरूप जान लेने के बाद ही हम उस की दुहिता-दक्षिणा-का माहात्म्य अनुभव कर सकते हैं।

दक्षिणा का मुख्य सम्बन्ध ऋत्विजों से है और ऋत्विजों का अधिकतम संबंध सामाजिक यज्ञ से है, अतएव इस सूक्त का विषय सामाजिक संगठन रूप यज्ञ के लिये त्याग करना समझना चाहिये। त्याग से संगठन यज्ञ में कितना बल आता है-यह इस सूक्त में बतलाया गया है।

अगले सूक्त में धन, अन्न आदि के दान की प्रशंसा की है। मनुष्य मात्र की सहायता करने के लिए उस की सेवा के लिए मनुष्य को अपनी सम्पत्ति का उपयोग करना चाहिये-यह इस सूक्त में उपदेश दिया है। अकेला भोग करने वाला केवल पाप का भागी होता है- **'केवलाघो भवति केवलादी।'** अत एव दूसरों को दान करना ही चाहिये यह इस सूक्त का सार है **"पृणीयादिन्नाधमानाय।"**

# दक्षिणा-सूक्त

## (1)

## दक्षिणा अन्धकार से मुक्त करने वाली ज्योति है

**आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभि-र्दत्तमागादुरुः पन्थाः दक्षिणाया अदर्शि ॥ १॥**

अर्थः-(एषां) इन सूर्य की रश्मियों का (महि माघोनं) महान् इन्द्रत्व या ऐश्वर्यशालित्व (आधिः अभूत्) प्रकट हुआ है। इसने (विश्वं जीवं) सम्पूर्ण जीवों को (तमसः निरमोचि) अंधकार से मुक्त कर दिया है। (पितृभिः) इन पालन पोषण करने वाली रश्मियों से (दत्तं) दी हुई (महि ज्योतिः) महान् ज्योति (आगात्) प्राप्त हुई है। क्योंकि इन्होंने (दक्षिणायाः) कृतज्ञतायुक्त त्याग का (उरुः पन्थाः) विस्तृत मार्ग (आदर्शि) दिखलाया है।।

यह प्रथम मंत्र सम्पूर्ण सूक्त का भूमिका रूप है। इस में सूर्य की किरणों की अलंकार रूप से स्तुति की है।

रात्रि के घोर अंधकार के उपरान्त प्रातःकाल अपनी नवीन छटा में सूर्य भगवान् का आविर्भव होता है। सूर्य की किरणों से सम्पूर्ण संसार जगमगा उठता है। अधंकार का नाश हो जाता है। इसी से ही सूर्य का 'मघवत्त्व (माघोनं)' प्रकट होता है।

वेद में इन्द्र का एक नाम मघवा भी है। मघ शब्द धन-वाची है। धनवान् होने से इन्द्र को मघवा कहते हैं। इन्द्र सब देवताओं का राजा है। सम्पूर्ण पदार्थों का अधिपति होने से

परमात्मा का नाम इन्द्र है। सब मनुष्यों का अधिपति होने से राजा को भी इन्द्र कहते हैं और इन सम्पूर्ण देवताओं—अग्नि, वायु, चन्द्रमा प्रभृति—का अधिपति होने से सूर्य को भी वेद में इन्द्र कहा गया है। इन्द्र शब्द 'इदि परमैश्वर्ये' से बना है। उत्कृष्ट ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण परमात्मा, राजा अथवा सूर्य को इन्द्र कहा जाता है। इसी कारण इन्द्र का पर्यायवाची नाम मघवा भी है। परन्तु इस मंत्र में इन्द्रत्व न कह कर मघवत्व (माघोन) कहने का एक विशेष तात्पर्य है—जिसे पाठकों को ध्यान में रखना चाहिये। 'माघोन' का अर्थ है मघवत्ता, ऐश्वर्य सम्पन्नता। मघ शब्द का अर्थ धन वा ऐश्वर्य इसलिये है क्योंकि इस का दान करना चाहिये—**मंहते दानकर्मणः।** इस मंत्र में सूर्य का इन्द्र न कह कर मघवा कहा गया। वह सूर्य केवल अक्षय ज्योति रूप ऐश्वर्य का भण्डार ही नहीं, केवल ऐश्वर्यशाली (इन्द्र-इदि परमैश्वर्ये) नहीं, वह तो अपनी अजस्र ज्योति का निःसंकोच प्रसार करने वाला है, दान करने वाला (मघवा-महंत दानकर्मणः) है। सूर्य का मघवत्व ही अपनी अक्षय ज्योति के प्रदान करने में है। घोर अन्धकार मय रात्रि के उपरान्त अपनी विभूति के साथ उदय होता हुआ सूर्य अपने माघोन रूप में आविर्भूत होता है। उस समय अपनी ज्योति का खुले हाथ—सहस्रों किरणों द्वारा-वितरण करता हुआ सूर्य भगवान् सम्पूर्ण प्राणियों को अंधकार से मुक्त करता है।

सूर्य भगवान् की किरणें पितर हैं। सूर्य स्वयं यम है। ये सब पितर (किरणें) मर कर, रात्रि के समय पृथिवी से मुक्त होकर यम में सूर्य के पास जाती हैं। सूर्य रश्मियाँ जीवन प्रदान करने वाली हैं। यही हमारा पालन पोषण करती हैं। इन सूर्य की किरणों से हमें महान् प्रकाश मिलता है। जहाँ इन किरणों से सर्वत्र भूमि से अंधकार का नाश होकर प्रकाश फैल जाता है। उसी प्रकार हमारे हृदय में भी ये किरणें अपने आविर्भाव के

साथ नवीन ज्योति का प्रसार करती हैं। इन किरणों ने हमें दक्षिणा का, कृतज्ञतायुक्त त्याग का, विस्तृत मार्ग दर्शाया है। सूर्य भगवान् की शुभ रश्मियाँ नित्य प्रति त्याग करने का उपदेश हमें दे रही हैं। जिस प्रकार संसार–यज्ञ को चलाये रखने के लिए सूर्य अपने प्रकाश का वितरण कर रहा है। उसी प्रकार सदा भेदभाव रहित होकर समान भाव से जाति, वर्ण तथा रूप रंग का भेद न करते हुए अपनी शक्ति से प्राणिमात्र की सेवा करने की उन के लिए त्याग करने की शिक्षा ये सूर्य रश्मियाँ अपने उदाहरण से हमें दे रही हैं।

प्रातःकाल सूर्य का दर्शन करते हुए हमें सदा इसी भावना को मन में जागृत करना चाहिये। हमारा दिन इसी भावना से प्रारम्भ हो। प्रत्येक कार्य इसी विचार से सम्पादित हो। इस भावना से किया हुआ सूर्य दर्शन हमारे जीवन का पथ प्रदर्शक होगा। हमारा जीवन ज्योतिर्भय हो सकेगा–**असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।**

अगले मंत्र में दक्षिणा देने का लांभ बताया गया है।

## (2)

## दक्षिणा से क्या लाभ होता है

**उच्चा दिवि दक्षिणावन्तोअस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।**
**हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदा सोम प्रतिरन्त आयुः॥२॥**

अर्थ–(दक्षिणावन्तः) कृतज्ञतायुक्त त्यागमय जीवन वाले पुरुष तथा (अश्वदाः) घोड़े आदि पशुओं का दान करने वाले। (हिरणयदाः) सुवर्ण आदि का दान करने वाले और (वासोदाः) दूसरों को निवास देने वाले (दिवि) द्युलोक में (सूर्येण सह) सूर्य की समान कोटि में (उच्चा अस्थुः) समाज में उच्च पद पर विराजते हैं। वे दानी पुरुष (अमृतत्वं) अमरत्व को (भजन्ते)

प्राप्त होते हैं। (सोम) हे सौम्य पुरुष! वे दानी पुरुष (आयुः) अपनी आयु को (प्रतिरन्ते) बढ़ाते हैं।

प्रथम मंत्र में सूर्य का मघवत्व प्रदर्शित किया है। सूर्य प्रतिदिन प्रातःकाल उदय होता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा अमृतवर्षा करता है। निष्काम भाव से लोकों को अपनी ज्योति प्रदान करता है। वह 'मघवा' प्रसिद्ध दानी है। जो पुरुष उस सूर्य का अनुकरण करते हैं, उसके अनुसार दक्षिणा देते हैं, वे सूर्य की समान कोटि में आ जाते हैं। जिस प्रकार सूर्य सब का मूर्धास्थानीय है, द्युलोक में सबसे ऊपर विराजमान होता है, उसी प्रकार दानी पुरुष भी समाज में सर्वोच्च पद लाभ करते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर राजा के संबंध में लिखा है।

**येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।**
**इदं तदक्रि देवा असपन्नः किलाभुवम्।**

ऋ० 10.175.4

'हे देवो! जिस त्याग द्वारा सूर्य कर्म शील प्रकाशवान् तथा सर्वोत्कृष्ट होता है,। उस त्याग को मैंने भी किया है। इसलिए मैं भी निश्चय से शत्रु रहित हो गया हूँ।'

इस मंत्र में भी सूर्य से त्याग की शिक्षा लेने का फल प्रदर्शित किया है। साथ ही यह भी बताया है कि त्याग से कर्मठता, प्रकाशशीलता तथा सर्वोत्कृष्टता इन गुणों का आविर्भाव होता है। जो मनुष्य सूर्य के त्याग को अपना आदर्श मानकर तदनुसार त्यागमय जीवन व्यतीत करते हैं, वे समाज में सूर्य के समान सर्वोच्च स्थान को प्राप्त करते हैं। महाभारत काल में कर्ण बहुत प्रसिद्ध दानी पुरुष हो चुके हैं। आज भी उसके नाम से दानी पुरुष को कर्ण नाम से पुकारते हैं। कर्ण को सूर्य का पुत्र कहा जाता है। यह उस की आलंकारिक उत्पत्ति है। जिस प्रकार हनुमान् को अत्यन्त फुर्तीला होने से पवन का पुत्र कहा जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त दानी होने से कर्ण को सूर्य का पुत्र

कहा जाने लगा। वैदिक वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण को समाज में सब से उच्च स्थान दिया गया है। सर्वस्व त्यागी ब्राह्मण के लिये समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लेना बिलकुल स्वाभाविक है। ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र क्रमशः स्थान पाते हैं। अतएव मंत्र में भी 'दक्षिणावन्तः' के बाद 'अश्वदा', 'हिरण्यदा', तथा 'वासोदाः' क्रमशः कहा गया है। सर्वस्व त्यागी ब्राह्मण के लिए यह कह सकना कि वह क्या-क्या त्याग करता है, कठिन है। वह तो सर्वस्वत्यागी है। परंतु क्षत्रियों का मुख्य धन अश्व है, जिस की पीठ पर सवार होकर वह देश रक्षा के लिए संग्राम में जुट जाता है। वैश्व सुवर्ण आदि धन द्वारा देश के लिए त्याग करता है। शूद्र, जिस के पास अन्य कोई सम्पत्ति नहीं, और नहीं तो कम से कम अपने घर में लोगों को आश्रय देकर सेवा कर सकता है। प्रत्येक वर्ण अपनी 2 शक्ति द्वारा अश्व, हिरण्य तथा वास आदि से लोकों के लिये त्याग करके उन की सेवा कर सकता है। स्वार्थहित कमाया हुआ धन अपने तक ही सीमित रहता है। परंतु परार्थ दिया हुआ धन उनके उत्कर्ष का साधन होता है।

त्याग मोक्ष का मुख्य साधन है। त्याग से विषयों में आसक्ति नहीं होती। क्योंकि ये विषय ही दुःख के कारण हैं। दुःख के कारणों से पृथक् रहने से मनुष्य दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। त्याग की अन्तिम पराकाष्ठा सब से मोह हटा लेने में है। जब मनुष्य सर्वमेध करके संन्यास ले लेता है, वित्तैषणा पुत्रेषणा तथा लोकैषणा का नाश कर देता है तभी वह पूर्ण संन्यासी बनता है। परंतु इन सब एषणाओं का त्याग करने के लिए सब से पूर्व वित्त का त्याग आवश्यक है। संन्यास मार्ग के लिये यह प्रथम सोपान है। जब तक मनुष्य का धन से मोह नहीं छूटता तब तक उसका पुत्र तथा यश का मोह

भी छूट नहीं सकता। इसी लिए वैदिक आश्रम व्यवस्था में त्यागमय जीवन की आरे ले जाने की एक बहुत उत्तम व्यवस्था कर दी गई है। ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य विद्योपार्जन करता है। उसका स्वार्थ अपने तक सीमित रहता है। गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने पर उस का स्वार्थ स्त्री-पुत्र में व्याप्त हो जाता है। स्त्री तथा पुत्र आदि के सुख दुःख में वह अपना सुख दुःख समझने लगता है। तदनन्तर इस संकुचित क्षेत्र से निकल कर विशाल क्षेत्र में प्रवेश करने की तैयारी के लिए घर से निकल कर जंगल में साधना करता है। अपने मन में स्त्री पुत्र आदि के मोह को दूर करने का निरंतर प्रयत्न करता है। गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते समय धन सम्पत्ति का तो सर्वमेध कर ही चुका होता है, संन्यासाश्रम में प्रवेश करके प्राणिमात्र में आत्म बुद्धि कर लेता है। प्राणिमात्र के सुख दुःख का साथी बन जाता है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था में शनैः 2 क्रमपूर्वक त्याग के जीवन की ओर प्रवृत्त करने की सुंदर व्यवस्था कर दी गई है। प्रत्येक मनुष्य गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने-अपने वर्ण में रहता हुआ त्यागमय जीवन व्यतीत कर सकता है। अन्ततः सम्पूर्ण त्याग करके संसार क्लेश से मुक्त हो सकता है।

सर्वसाधारण पुरुषों की आयु शरीर समाप्ति के साथ समाप्त हो जाती है, परंतु दक्षिणावान् पुरुषों की आुय उस के बाद भी रहती है। वे अपना नाम पीछे भी छोड़ जाते हैं।

## (3)

## दक्षिणा दिव्य पूर्ति करने वाली है

**दैवी पूर्ति दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो न हि ते पृणन्ति।**
**अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति॥३॥**

अर्थः-(देवयज्या) देवभाव से यज्ञ में दी हुई (दक्षिणा)

दक्षिणा (दैवी पूर्तिः) दिव्य भावों की पूर्ति करने वाली होती है। परन्तु (कवारिभ्यः न) अदूरदर्शी पुरुषों के लिए दिव्य भावों की पूर्ति नहीं होती। (हि) क्योंकि (ते) वे अदूरदर्शी पुरुष (न पृणन्ति) दान ही नहीं करते। (अथ) और (प्रयत-दक्षिणासः) दक्षिणा देने वाले (नरः) मनुष्य होते हैं। परन्तु (बहवः) उन में बहुत से (अवद्यभिया) निन्दा के भय से (पृणन्ति) दान करते हैं। वे देवभावना से दान नहीं करते।

संकुचित दृष्टि वाले अदूरदर्शी पुरुष दान देते हुए यह समझते हैं कि हम सब कुछ गंवा रहे हैं। वे लोग स्वार्थ बुद्धिवश होकर अपने पैसे को हवा नहीं लगाना चाहते। दूसरों को दान करते हुए उनका दिल दुखता है। यथार्थ, अर्थात् किसी भलाई के काम में दान देने की इच्छा ही नहीं होती। ऐसे पुरुषों को वेद ने 'कवारि' नाम से पुकारा है। क्योंकि उन की दृष्टि संकुचित होती है। वे कवियों के, क्रांतदर्शी पुरुषों के शत्रु होते हैं। वे भविष्य में दृष्टि रखने वाले नहीं होते, उनकी दृष्टि वर्तमान काल तक ही सीमित रहती है। वे नहीं जानते कि यज्ञार्थ-सामाजिक यज्ञ के लिए किया हुआ दान समाज की उन्नति करने वाला और परिणामतः प्रत्येक व्यक्ति की अभिवृद्धि करने वाला होता है। यदि एक दुकानदार अपनी दुकान की कमाई को प्रतिदिन समाप्त करता जावे, दुकान की सामग्री के लिए धन सञ्चय न करे तो थोड़े ही दिनों में उस की दुकान की सब सामग्री समाप्त हो जायगी। यह उसकी अदूरदर्शिता का परिणाम है। इसी दृष्टान्त को हम विशाल क्षेत्र में देख सकते हैं। यदि हम आर्य पुरुष धार्मिक संगठन यज्ञ रूप आर्य समाज के लिए कुछ त्याग नहीं करते, अपनी कमाई का कुछ भी अंश नहीं देते, तो जहाँ उस यज्ञ का ध्वंस होगा, वहाँ साथ-साथ हमारा भी अधः पतन होगा। चार 2 पैसे देने से हम गरीब तो

बन नहीं जाते परंतु इस थोड़े से धन से हमारा आर्य समाज रूप या राष्ट्र रूप महायज्ञ चल सकता है। उस यज्ञ के सम्पन्न होने से हमारे राष्ट्र के व्यक्तियों में धार्मिक अथवा राष्ट्रीय जागृति होती रहती है। मनुष्य को अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक अभिवृद्धि का सुवर्ण अवसर मिलता है। इसी प्रकार किसी भी उत्तम कार्य के लिए शिक्षा, पतितोद्धार, अनाथरक्षा या व्याधि ग्रस्तों को सेवा के लिए दिया हुआ दान 'देवयज्या' कहलाता है। किसी भी पवित्र उद्देश्य से यज्ञार्थ किया हुआ त्याग दिव्य गुणों की पूर्ति करने वाला होता है। कुछ पुरुष दूसरों को चूसने के लिए, सम्पूर्ण राष्ट्र की सम्पत्ति को अपने पास एकत्रित करने के लिए (Accumalation of wealth) बड़े-बड़े संघ (League or Co-operative Society) स्थापित करने के लिए अपनी कमाई का कुछ अंश देकर एक संगठन करना चाहते हों तो उनका वह संगठन दैवी पूर्ति करने वाला नहीं हो सकता। क्योंकि वह यजन संगतिकरण अथवा संगठन देवभाव से नहीं किया गया।

जिस कामना से यज्ञ किया जाता है, उसी कामना की पूर्ति उस यज्ञ से होती है। यदि धन-संग्रह के लिए यज्ञ किया गया है तो धन-प्राप्ति होगी और दिव्य भावों की पूर्ति के लिये-शिक्षा आदि की अभिवृद्धि के लिए यज्ञ सम्पादन हुआ है तो दिव्य भावों की उस से पूर्ति होगी। यज्ञ तो इष्टकामधुक् है। यह तो एक शक्तिपुञ्ज है जो अच्छाई या बुराई दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है। प्राचीन लोग इस से स्वर्ग प्राप्ति भी करते थे और अभिचार क्रिया भी करते थे। विद्युत् की शक्ति मनुष्य समाज की रक्षा के लिए भी प्रयुक्त हो सकती है और उसके ध्वंस के लिए भी काम में लाई जा सकती है। यह तो यज्ञकर्ता यजमान की फल कामना पर निर्भर है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि जो

अदूरदर्शी स्वार्थी पुरुष यज्ञ शक्ति को अनुभव नहीं करते, यथार्थ त्याग करने में दुख मानते हैं (न पृणत्ति) वे 'कवारि लोग किसी भी शक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। उन्होंने तो दक्षिणा देना ही नहीं सीखा, वे यज्ञ कैसे कर सकते हैं? दक्षिणा तो यज्ञ की पुरोगवी' है। अन्ततोगत्वा यही स्वार्थबुद्धि मनुष्य का विध्वंस करने वाली सिद्ध होती है। रूस के ज़ार का दृष्टान्त अभी बिलकुल नया ही है। रूस के ज़ार ने अपने सुखों के अन्ध स्वार्थ से प्रेरित होकर वहाँ के किसानों का जो खून चूसा उस से समाजसंगठन रूप यज्ञ (मशीनरी) में स्नेह के अभाव से असंतोष की भयंकर ऐसी प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो उठी जिस ने जार को वंश समेत भस्मसात् कर दिया। **'सूच्यग्रं नव दास्यामि बिना युजनै केशव।'** इत्यादि स्वार्थपरायण भावनाएँ ही दुर्योधन या कौरव वंश के विनाश का कारण बनीं। इतिहास में कितने ही ऐसे उदाहरण हैं जो इस सचाई को हमारे सामने बड़े स्पष्ट रूप में रख रहे हैं। परंतु बहुधा स्वार्थ से अन्धा हुआ पुरुष इनको देखता हुआ भी नहीं देखता। ऐसे पुरुषों को वेद में 'अराति' नाम दिया गया है। 'अराति' का मुख्य अर्थ 'दान न देने वाला' है। यह शब्द नञ्पूर्वक 'रादाने' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर बनता है। इस शब्द का गौण प्रयोग शत्रु अर्थ में भी होता है। वस्तुतः दान न करने वाला स्वार्थी पुरुष समाज का तथा अपना शत्रु होता है। देव पूजा के लिए दी हुई दक्षिणा, किया हुआ त्याग, दिव्य पूर्ति करने वाला होता है। सामाजिक संगठन यज्ञ के अतिरिक्त वैयक्तिक जीवन में भी दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये किया हुआ त्याग दिव्य पूर्ति करने वाला होता है।

जीवन एक यज्ञ है यह पाठक प्रारम्भिक विवेचना में पढ़ चुके हैं। परंतु वह यज्ञ तभी है जब जीवन का उद्देश्य देव पूजा

हो। उस यज्ञ के लिए त्याग की, दक्षिणा की आवश्यकता है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का प्रथम मंत्र मनन करने योग्य है–

**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥**

इस मंत्र में बताया है कि इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु में सर्वाधिपति परमेश्वर ओत प्रोत है। मनुष्य का उद्देश्य उस को प्राप्त करना है, उस देव की पूजा करना है। उस ब्रह्म के परम साम्य को प्राप्त होना या तन्मय होना मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य है। अतएव इस संसार के विषयों के सुखों को परम उद्देश्य मत समझो, इन में आसक्ति पैदा मत करो, प्रत्युत त्याग पूर्वक इन का भोग करो।

विषय भोग में आसक्ति पैदा करने से मनुष्य का प्रणाश ही होता है। मनुष्य जीवन का अधः पतन हो जाता है। जीवन-स्वास्थ्य जाता रहता है। श्रीकृष्ण भगवान् ने इस रहस्य को बड़े विशद रूप में गीता में प्रतिपादित किया है–

**ध्य यतो विषयान् पुँसः संगस्तेषूपजायते।**
**संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥**
**क्रोधादभवति संमोहः संमोहात् स्मृति विभ्रमः।**
**स्मृतिभ्रंशादबुद्धिनाशोबुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥**

2.62,63

'विषयों में संग करने वाले पुरुषों का उन विषयों में संग बढ़ता जाता है। फिर इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हम को यह विषय चाहिये और इस इच्छा की तृप्ति होने में विघ्न पहुँचने पर उस 'काम' से ही क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है। संमोह से स्मृतिभ्रम, स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वस्वनाश हो

जाता है।'

वस्तुतः जितना 2 हम विषय भोगों की ओर दौड़ते हैं, उतने 2 ही मृगतृष्णा के समान वे हम से भागते जाते हैं। मनुष्य को कभी संतोष नहीं होता। परंतु तृष्णा बढ़ती ही जाती है। जो पुरुष त्याग पूर्वक भोग करता है उस का जीवन सुखी तथा संतोषमय होता है। परम देव परमात्मा में आसक्ति पैदा करके उस की प्राप्ति के उद्देश्य से त्याग पूर्वक भोग करना, जीवन व्यतीत करना दिव्य पूर्ति करने वाला होता है। देवयजन के उद्देश्य से दक्षिणा देने से दैवी पूर्ति होती है। मनुष्य को दैवीसम्पत् प्राप्त होती है। बिना त्याग के, बिना विषयासक्ति को छोड़े दिव्य पूर्ति नहीं हो सकती। यज्ञार्थ पशुहिंसा (आसक्ति, क्रोध आदि) करने से ही स्वर्ग (आत्यन्तिक सुख) की प्राप्ति होती है।

आर्य जाति में दान देने की पर्याप्त प्रवृत्ति है। हम आर्य समाज में, राष्ट्रिय महासभा में दान करते हैं। परंतु हम में से श्रद्धापूर्वक स्वयं जाकर दान देने वाले कितने हैं। आर्य समाज का चपरासी कितनी बार हमारे द्वार पर चक्कर काटता है। उत्साही कार्यकर्ताओं के बहुत आग्रह करने पर अनिच्छापूर्वक हम बहुत कुछ दान करते हैं। लोकनिन्दा के डर से हमें परोपकार के कार्यों में कुछ देना पड़ता है। यह दान सात्विक नहीं कहा जा सकता। लोकलज्जा के भय से हम हाथ द्वारा तो कुछ पैसा दे देते हैं, परंतु मन द्वारा नहीं। दान देते हुए उत्साह नहीं होता। उस समय तो दुःख मना रहे होते हैं। हमारा पैसा तो यज्ञार्थ व्यय हो ही जाता है, परंतु हमारा मन, हमारी आत्मा यज्ञार्थ आहुत नहीं होती। दिल से हमें परोपकार में प्रेम नहीं होता। दान देने से जो आत्मसंतोष और समाज के साथ आत्म एकीकरण की पवित्र भावना उत्पन्न होनी चाहिये वह

अनिच्छापूर्वक लोकापवाद के भय से दान करने पर नहीं होती। प्राचीन काल के गुरु लोग शिक्षा सामाप्त करके गुरु कुल से बिदाई देते हुए अपने शिष्यों को उपदेश करते हुए शिक्षा दिया करते थे–**श्रद्धया देयम् अश्रद्धयादेयं, श्रिया देयं, भिया देयं, ह्रिया देयं, संविदा देयम्।** (तैत्तिरीय 11.3) 'हे शिष्य तुम्हें श्रद्धा पूर्वक दान करना चाहिये। बिना श्रद्धा के दान मत देना। प्रभूत मात्रा में दान दिया करना। नम्रता पूर्वक दान करना। दान देते समय अभिमान नहीं करना चाहिये। पाप से डरते हुए दान किया करना। यह सोच कर कि यदि मैंने दान न किया तो मैं पाप का भागी बनूँगा तुम्हें दान से नहीं चूकना चाहिये। ज्ञान पूर्वक दान करना। पात्र, कुपात्र का विचार करके दान करना। कहीं ऐसे स्थान पर दान न कर बैठना, जिस से यज्ञ में विघ्न पहुँचे।' इस में सब से प्रथम यही उपदेश दिया है कि श्रद्धा पूर्वक दान दिया करो। यज्ञार्थ तन मन धन स्वाहा कर देना सर्वश्रेष्ठ दान है। अनिच्छा पूर्वक दान करने से हम धन तो दे देते हैं, परंतु हम अपना मन यथार्थ अर्पित नहीं करते, तन को स्वाहा करना तो दूर रहा। यदि श्रद्धा पूर्वक धन दान किया जावे तो मन भी यथार्थ अर्पित हो जाता है। दानी पुरुष सदा उस यज्ञ की सफलता की कामना करता रहता है और जहाँ तक बन पड़ता है उसकी सफलता के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस से मनुष्य की आत्मा (Self or Ego) का विकास होता है। उस अहंतत्व (I-am-ness) का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार जब वह प्राणिमात्र के हित के लिए तत्पर हो जाता है, उस समय वह सब प्राणियों से अहंभाव जोड़ लेता है। वह अनुभव करने लगता है–**'सोऽहमस्मि।'** अर्थात् जिस-जिस प्राणी को देखता है उस में आत्म बुद्धि कर लेता है। उन के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझता है ऐसी भावना के आ जाने से

वह पुरुष दुख शोक से ऊपर उठ जाता है—**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।** (यजु॰ 4.7) यही दैवी पूर्ति है। केवल लोक लज्जा के भय से दान करते रहने से दैवी पूर्ति नहीं होती। इसलिये देवकार्य के लिए दक्षिणा देते हुए, दान करते हुए श्रद्धावान् होना चाहिये। यज्ञार्थ केवल पैसा ही न दे प्रत्युत मन भी समर्पित करें। श्रद्धा तो मन का एक रूप (aspect) है। श्रद्धा पूर्वक दान करने से आत्मा उन्नत होता है। उस में बल आता है। लोक लज्जा से दिया हुआ धन विशेष फल नहीं लाता। उस से दैवी पूर्ति नहीं होती। इस लिये—**एकमना जुपस्व।**

## (4)
## यज्ञार्थ दी हुई दक्षिणा व्यर्थ नहीं जाती

**शतधारां वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभिचक्षते हविः।**
**ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे। ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम् ।।४।।**

अर्थः जो (नृचक्षसः) मनुष्यों में तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुष हैं (ते) वे (हविः) दान को (शतधारं वायुं) सैकड़ों धाराओं वाली वायु के रूप में और (स्वर्विदं अर्कं) सुख पहुँचाने वाले सूर्य के रूप में (अभिचक्षते) देखते हैं। (ये) जो पुरुष (संगमे) सामूहिक स्वार्थ के लिए संगठन यज्ञों में (पृणन्ति) दान करते हैं (च) और (प्रयच्छन्ति) दिल खोल कर दान करते हैं (ते) वे (सप्तमातरं दक्षिणां।) सात गुनी दक्षिणा को (दुहते) दोहते हैं—प्राप्त करते हैं।।

स्वार्थी अदूरदर्शी पुरुष दान करते हुए दुःखी होते हैं। वे देते हुए समझते हैं कि उनका धन नष्ट हो रहा है। परंतु जो 'नृचक्षस्' हैं, हम में से तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुष हैं; वे त्याग को, दक्षिणा को निष्फल नहीं समझते। सर्वसाधारण पुरुष तो धन को

अपने से पृथक् करते हुए समझते हैं कि वह धनराशि उनके लिए किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं रही। उस धन से सम्भवत: किसी दूसरे का तो उपकार हो, परंतु उसे कोई लाभ नहीं। किसी अन्य व्यक्ति ने वह धन प्राप्त किया है और उस ने गंवाया है। उनकी दृष्टि अत्यन्त संकुचित होती है। वे उसी क्षण को देख रहे होते हैं। उस के परिणाम से सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं।

तत्वदर्शी पुरुष इस संसार को यज्ञमय समझते हैं। इस संसार रूप यज्ञाग्नि मे वायु और सूर्य की हवि डाली गई है। इन्हीं हवियों से यह यज्ञ प्रज्वलित हो रहा है। यह वायु सैकड़ों रूपों में बहती हुई सब प्राणियों को प्राण दान कर रही है। प्रतिदिन प्रात: काल उदय होता हुआ यह सूर्य भी अपनी असंख्यात किरणों द्वारा वनस्पति, पशु पक्षी आदि सब चेतन पदार्थों को सुख पहुँचा रहा है, उनकी वृद्धि कर रहा है जिस प्रकार यज्ञाग्नि में घृत आदि की आहुति देने से वह यज्ञ प्रदीप्त होता है, उसी प्रकार यह संसार-यज्ञ वायु तथा सूर्य की हवि से प्रज्वलित हो रहा है। इस संसार-यज्ञ का होता विश्वकर्मा परमात्मा है-**य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता**...। वह स्वयं यज्ञमय है और उसने यह संसार यज्ञ प्रारम्भ किया है। इस संसार यज्ञ में त्याग वा दान करने वाला परमात्मा है। वायु में जीवन देने की शक्ति तथा सूर्य में प्रकाश करने की शक्ति उसी सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर से आती है। वह पंचभूतों द्वारा अपनी शक्ति-दक्षिणा-के प्रभाव से संसार यज्ञ का संचालन कर रहा है।

जिस प्रकार परमेश्वर (विश्वकर्मा) इस संसार यज्ञ को चला रहा है, उसी प्रकार हमें भी संगठन रूप यज्ञ को चलाना चाहिये। इस यज्ञ के लिए सब से पूर्व दान की, त्याग व दक्षिणा

की आवश्यकता है। इसी से यज्ञ में 'दक्ष' अर्थात् बल आता है।

संगठन यज्ञ के लिए इस मंत्र में 'संगम' शब्द आया है, जिस का अर्थ है–'अच्छी तरह मिलना, मेल जोल करना, संगठित होना।' परमात्मा को तो किसी वस्तु की कामना नहीं। वह तो आप्तकाम है, कामना रहित है–'**अकामः...... रसेन तृप्तो न कुनश्चनोनः**' उस में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं, जिसे पूर्ति करने की उसे अभिलाषा हो। परंतु मनुष्य अल्पशक्ति वाला है। वह अपूर्ण है। अपने को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए, यथा सम्भव पूर्ण करने के लिये, यज्ञ की आवश्यकता है। मनुष्य एकाकी कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे ज्ञान सम्पादन के लिए अपने ज्ञानी महात्माओं के चरणों में जाना होगा। '**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्यवरान्निबोधत।**' बल अथवा धन की प्राप्ति के लिए अन्य पुरुषों से सहायता की अपेक्षा होगी। जिस किसी भी उद्देश्य से संगठित होकर, सभा सोसाइटी बनाकर एक दूसरे से दान प्रत्यादान करते हुए हम उन्नति कर सकते हैं। दैनिक व्यवहार भी बिना पारस्परिक विनिमय से सम्पन्न नहीं हो सकते। आज कल पाश्चात्य जगत् में इस यज्ञ के महत्व को लोग अच्छी तरह समझ गए हैं। वे जानते हैं कि इस यज्ञ में दी गई दक्षिणा बेकार नहीं जाती। कृषियज्ञ में लगाया हुआ गेहूँ का एक दाना दस दानों को पैदा कर देता है। व्यापार-यज्ञ में एक पैसे से कई पैसे बन जाते हैं। केवल अन्न वा धन की नहीं, प्रत्युत अपने में छिपाए हुए ज्ञान की अपेक्षा दूसरों को दिया हुआ ज्ञान कई गुना बढ़ता है। पारस्परिक विचार-विनिमय से ज्ञान का उत्कर्ष तथ परिष्कार हो जाता है। जो मनुष्य इस प्रकार के संगठन यज्ञ में दान करते हैं और दिल खोल कर दान करते हैं वे उस के प्रतिफल में सात गुना, कई गुना प्राप्त करते हैं। मनुष्य के शरीर की सातों धातुएँ, सातों

इन्द्रियाँ तथा सातों लोक उन्नत होते हैं।[1]

## (5)

## दक्षिणावान् की समाज में उत्तम स्थिति होती है

**दक्षिणावान् प्रथमो दूत एति दक्षिणावान् ग्रामणी रग्रमेति।**
**तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविषाय।।५।।**

अर्थः-(दक्षिणावान्) दक्षिणा देने वाला त्यागी पुरुष (प्रथमःहूतःएति) सब कार्यों में सब से पहले बुलाया जाता है। (दक्षिणावान्) दक्षिणा देने वाला त्यागी पुरुष (ग्रामणीः अग्र एति) ग्राम के नेताओं में आगे-आगे चलता है। (यः) जिस ने (प्रथमः) सब से पूर्व (दक्षिणां आविवाय) दक्षिणा की प्रथा को प्रचलित किया है (तं एव) उसी को ही (जनानां) मनुष्यों का (नृपतिं) अधिपति (मन्थे) मैं समझता हूँ।।

यज्ञ में दक्षिणा देने वाले पुरुष की दान से आत्मिक उन्नति होती है, यह दूसरे मंत्र में बताया जा चुका है। दान देने से मानसिक प्रसन्नता तथा आत्मिक उन्नति तो होती है, परंतु इस के अतिरिक्त दक्षिणा दे कर, त्याग करके, जिस यज्ञ द्वारा मनुष्य-समाज की सेवा की जाती है, उस यज्ञ से संबंद्ध सभी पुरुष उस का आदर करते हैं। ऐसे दानी पुरुष के लिए लोग अपने को कृतज्ञ समझते हैं। मनुष्य के लिए यह बात स्वाभाविक है। यदि कोई व्यक्ति कृषि-यज्ञ की अभिवृद्धि के लिए अपनी सम्मति को लगा देता है तो उस से कृषि के ज्ञान में वृद्धि होने

---

1. सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः ममिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त।। मुण्डक० 2.1.8

से जो लाभ किसानों को होता है, वह उनकी प्रसन्नता को बढ़ाने वाला होता है। इसलिये किसान लोग स्वभावतः ही किसी समस्या के उपस्थित हो जाने पर उसे बुलाते हैं। वह दानी पुरुष उन की श्रद्धा का पात्र हो जाता है। उसी श्रद्धा के कारण वे सब लोग उसे अपना अग्रणी बनाते हैं। इसी प्रकार जिस यज्ञ के लिए व्यक्ति दान करता है, उस यज्ञ से संबंद्ध पुरुषों का वह आदरणीय हो जाता है। उस यज्ञ से जिनकी उन्नति हाती है, वे अपने को उस का ऋणी अनुभव करते हैं। आज महात्मा गांधी ने जो स्वराज्य संग्राम जारी किया है, जिस के लिए उन्होंने सब से प्रथम अपनी दक्षिणा दी है, वह संग्राम यज्ञ प्रत्येक भारतवासी से संबंध रखता है। इस दक्षिणा से उन्होंने भारतवासियों के हृदयों में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में उन को निमंत्रण दिया जाता है। सब से पूर्व उन से सलाह ली जाती है। वह राष्ट्र के नेताओं में सब से मुख्य गिने जाते हैं। धार्मिक क्षेत्र में बड़े सन्त महात्मा हो गए, जिन्होंने धर्म के लिए अपनी दक्षिणा दे दी, अपने को स्वाहा कर दिया। महात्मा बुद्ध ने दीन दुखियों के कष्टों को निवारण करने में ही अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया। महात्मा ईसा मसीह अपने देशवासियों की उन्नति करता हुआ ही शूली पर चढ़ गया। इन्होंने मनुष्य समाज की अभिवृद्धि करने के लिए धार्मिक यज्ञ के प्रति आत्म-दक्षिणा दे दी थी, आत्म बलिदान कर दिया था। उन के मुक्त हो जाने पर आज भी लोग जीवन की समस्याओं के उपस्थित हो जाने पर उन का नाम लेते हैं, उनके द्वारा समस्याएँ सुलझाते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मनुष्य मात्र की, ओर विशेषतः भारतवासियों की भलाई के लिए जिस महान् यज्ञ की रचना की, जिस के लिए अपनी दक्षिणा दी, उसी के लिए खुशी-खुशी से विष का

प्याला भी पी गए। उन्होंने इस महान् यज्ञ की रचना करके भारतवर्ष की कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा अन्धविश्वासों को भस्मसात् करते हुए सामाजिक, धार्मिक वा राजनैतिक क्षेत्र में नवजीवन का संचार कर दिया। वह भारतवासियों के स्वभावसिद्ध अग्रणी बन गए हैं। जिन की भलाई के लिए ऐसे त्यागी पुरुषों ने चन्दन व कस्तूरी की तरह अपने को घिस-घिस कर विलीन कर दिया हो वे लोग उनके लिए अपने को अर्पित करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वे त्यागी पुरुष मनुष्यों के हृदय सम्राट् बन जाते हैं। आजकल महात्मा गांधी राजा न होते हुए भी भारतवासियों के सम्राट् हैं। उनके आदेश के अनुसार सम्पूर्ण भारतवर्ष एक सूत्र में पिरोया गया है। इसी त्याग ने ही उन्हें भारतवासियों का सम्राट् बनाया है।

वस्तुत: जिन्होंने समाज सेवा के लिये आत्म समर्पण कर दिया है, समाज उनके प्रति अपने को अर्पित कर देता है। ऐसे त्यागी महात्मा पुरुष ही समाज को नई दिशा में ले जाने वाले होते हैं। वे ही समाज के अग्रणी, नेता तथा राजा होते हैं। जो पुरुष जितना अधिक त्याग करते हैं, वे उतनी ही अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। अत्यन्त स्वार्थी दानभाव रहित पुरुष की अपेक्षा धन का त्याग करने वाले, तथा उन से अधिक सर्वस्व त्याग करने वाले पुरुष उच्च पद को प्राप्त करते हैं।

हम जितना अधिक अपना जीवन त्यागमय बनाएँगे उतना ही अधिक लोगों की प्रतिष्ठा के पात्र बनेंगे। लोगों से प्रतिष्ठा पाने के विचार से ही हमें परोपकार नहीं करना चाहिये। प्रतिष्ठा वा यश की कामना से प्रेरित होकर पूर्ण आत्म त्याग नहीं किया जा सकता। प्रतिष्ठा तो आत्म त्याग-दक्षिणा-की छाया के समान अनुसरण करती है। हमें तो अपने आप को दक्षिणावान् बनाने की आवश्यकता है। यश, मान प्रतिष्ठा तो स्वयं प्राप्त हो जाती है। इनके लिए विशेष यत्न की आवश्यकता नहीं।

## (6)

## दक्षिणावान् ही समाज का वास्तविक नेता होता है

**तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।**
**स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो। यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥६॥**

अर्थः–(तं एव ऋषि) उसी को ही ऋषि, (तं उ ब्रह्माणं) और उसे ही सच्चा ब्राह्मण, (यज्ञन्यं) यज्ञ का नेता (सामगां) सामगान करने वाला–उपासक तथा (उकथ शासं) मन्त्रपाठी (आहु:) कहते हैं। और (स) वह ही (शुक्रस्य) शान्ति के (तिस्र:तन्व:) तीनों स्वरूपों को (वेद) जानता है। (य:) जिस ने (प्रथम:) सब से पूर्व (दक्षिणया) त्याग द्वारा (रराध) यज्ञ को सिद्ध किया है; अर्थात् किसी यज्ञ को सफल बनाया है।

वस्तुत: ऋषि कहलाने योग्य पुरुष वही है, जिसने अपनी दक्षिणा देकर किसी यज्ञ को चलाया है। दक्षिणा से, त्याग से दु:ख मानने वालों की दृष्टि बहुत छोटी होती है। वे दुनिया की सचाई, ऋत के तन्तु को नहीं देख सकते। उसका दर्शन तो वही कर पाते हैं जिन्होंने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि मनुष्य समाज की उन्नति यज्ञ द्वारा–संगठन द्वारा ही हो सकती है और वह यज्ञ बिना दक्षिणा के प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। अतएव जिन्होंने सब से पहले अपनी दक्षिणा यज्ञार्थ अर्पित की है वे ही ऋषि हैं। जो पुरुष पहले यज्ञार्थ दक्षिणा देते हुए डरता है कि कहीं उस की दी हुई दक्षिणा व्यर्थ न जावे, उस में दर्शन शक्ति ही नहीं, वह ऋषि ही नहीं। कोई व्यक्ति कितना ही पढ़ जावे; परंतु जब तक उस में त्याग की भावना नहीं वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी नहीं। स्वार्थरत पुरुष कभी परोपकार–लोकसेवा–नहीं कर सकता। ब्राह्मण का मुख्य धर्म तो त्याग है और मुख्य कर्तव्य यज्ञ करना कराना है। मनु

महाराज ने ब्राह्मणों के गुण लिखते हुए पहला गुण 'इज्या' लिखा है। हमारे वेद आदि सत् शास्त्रों में ब्राह्मण को सब से उच्च आसन ही इसलिये दिया गया है। क्योंकि उसे अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। परोपकार-लोक सेवा के हेतु वह त्यागमय जीवन व्यतीत करता है। सच्चा ब्राह्मण तो अपनी भोज्य सामग्री भी एकत्रित करने की परवाह नहीं करता। लोग श्रद्धापूर्वक स्वयं उस की आवश्यकताएँ पूर्ण करते रहते हैं। जिस पुरुष में यज्ञार्थ, परोपकारार्थ त्याग करने की, दक्षिणा देने की, प्रवृत्ति ही नहीं वह पुरुष ब्राह्मणवृत्ति शून्य है। वह सच्चा ब्राह्मण नहीं कहलाया जा सकता। किसी यज्ञ को-परोपकार के संगठित कार्य को-भी वही मनुष्य कर सकता है, जो पहले स्वयं आत्मत्याग करने को तैयार हो। जो सेनापति संग्राम में स्वयं मृत्यु के डर से पीछे खड़ा रहता है वह अपनी सेनाओं को कभी सफल नहीं बना सकता। इतिहास में सभी सफल योद्धाओं की सफलता की कुंजी इसी आत्मत्याग की भावना में ही रही है। भारतवर्ष में पृथ्वीराज, दुर्गादास तथा राणा प्रताप और यूरोप में नैपोलियन, विस्मार्क, नैलसन आदि इस बात के ज्वलन्त उदाहरण हैं। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। इसी वर्ष भारतवर्ष ने जो स्वराज्य संग्राम प्रारम्भ करके विजय लाभ किया है, वह संग्राम प्रारम्भ ही न हो सकता यदि महात्मा गांधी पहले अपने आप को इस यज्ञ के लिए अर्पित न करते।

इसी दक्षिणा द्वारा वह 'यज्ञनी'-संग्राम यज्ञ के नेता-हो गए। किसी भी यज्ञ के प्रवर्तक को बहुत दुविधा में नहीं पड़ना चाहिए। जिस ने स्वयं लोक सेवार्थ आत्माहुति दे दी, लोग उसका अनुसरण अवश्य करेंगे। स्वामी श्रद्धानंद जी ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली को दूषित अनुभव किया। उन्होंने ज्ञान-यज्ञ के लिए नवीन विचार लोगों के सामने रखे। शुरू में लोग अपने

लड़कों को दूर जंगल में भेजने के लिए तैयार न होते थे। वे भय खाते थे। परन्तु उस वीर ने पहले-पहले अपने दो प्रिय पुत्रों की इस यज्ञ में आहुति दी। इस से वह यज्ञ प्रदीप्त हो गया। शनैः-शनैः दूसरे लोगों ने भी गुरुकुलों में अपने बालक भेजने शुरू किये। स्वामी श्रद्धान्नद जी ने दलित भाईयों की दीन दशा को देखा। उनके उद्धार के लिए अपनी आहुति दी। कई बार मृत्यु का भय उपस्थित हुआ, परंतु उस वीर ने कोई परवाह न करके अपना कार्य जारी रखा। जिस का परिणाम यह हुआ कि एक साल में ही भारतवर्ष के एक कोने से दूसरे कोने तक यह शुद्धि का आंदोलन फैल गया। हजारों की संख्या में लोग शुद्ध होने लगे। किसी भी यज्ञ को प्रारम्भ करने के लिए सब से पूर्व यजमान को आत्मबलि देनी होगी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भारतवर्ष में कुरीतियों, कुप्रथाओं तथा अन्धविश्वासों का अतिशय आधिक्य देखा। उन्होंने इस गंद को भस्मसात् करके फिर से नई रम्य वाटिका लगाने का निश्चय किया। अपने गुरु का आदेश लेकर दुनिया में कूद पड़े जहाँ-जहाँ बुराई देखी उसे भस्मसात् कर दिया। जगह-जगह विपक्षियों ने उन्हें डराया धमकाया और मारने का भी प्रयन्त किया, परंतु वह आदित्य ब्रह्मचारी तो किसी और ही फौलाद का बना हुआ था जिस पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह निरंतर अपना कार्य करता रहा। और अंत में उसी अपने कार्य के लिए अपना जीवन तक अर्पित कर दिया। यह महर्षि के उसी आत्म समर्पण का फल है कि उनके चलाये हुए यज्ञ को सैंकड़ों पुरुष आगे 2 बढ़ा रहे हैं। दक्षिणा तो यज्ञ की 'दुहिता है, पुरोगवी है। उसके बिना यज्ञ का नयन (Progress) हो ही नहीं सकता, मनुष्य 'यज्ञनी' बन ही नहीं सकता। यह प्रारम्भ करने के लिए पहले हमें स्वयं दक्षिणा देनी पड़ेगी, आत्मसमर्पण करना होगा।

केवल सामाजिक यज्ञ के लिए ही दक्षिणा की आवश्यकता नहीं प्रत्युक्त वैयक्तिक यज्ञ--जीवन यज्ञ के लिए भी हमें पहले दक्षिणा देनी होगी, त्याग करना पड़ेगा। जीवन तपस्या से बनता है। तपस्या द्वारा पुरुष को अपने आराम तथा विषय सुखों का त्याग करना होता है। जिस ने त्याग नहीं किया वह ईश्वर भक्त भी नहीं हो सकता। धन सम्पत्ति का लोभ मनुष्य को ईश्वर पूजा से वञ्चित रखता है। शिवरात्रि के दिन सच्चे शिव के ज्ञान की लगन ने मूल शंकर (बाद में महर्षि दयानन्द सरस्वती) को इतना उद्विग्न कर दिया कि उन को अपनी जायदाद व सम्पत्ति का त्याग करके बाहिर जाना पड़ा। महात्मा बुद्ध भी सत्य की खोज में अपनी प्रियतमा स्त्री, नवजात बालक व राज्य का मोह छोड़ कर एकान्तवास करने लगे। किसी भी उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिए सांसारिक पदार्थों का मोह छोड़ना ही पड़ता है। त्यागी, दक्षिणा देने वाला पुरुष ही वास्तविक सामगान कर सकता है। सामगान-ईश्वरोपासना तब तक नितान्त असंभव है जब तक विषय संग से पुरुष मुक्त न हो जाय, जब तक उनका त्याग न कर दे। त्याग अथवा विषासक्ति की इच्छा का नाश किये बिना केवल मंत्र जाप (उक्थ शंसन) भी मनुष्य की उन्नति में सहायक नहीं हो सकता। संत कबीरदास का वचन मनन करने योग्य है-

माला फेरत जुग भया, गया न मन का फेर।
मनका मनका छाड़ि दे, मन का मनका फेर।।

जब तक मन की साधना नहीं की, उसे विषयों से विरक्त नहीं किया, दक्षिणा वा त्याग द्वारा उसे सिद्ध नहीं किया, तब तक मंत्र का जाप मात्र करते रहने से कुछ नहीं बनता। मंत्र जाप करना भी दक्षिणावान् के लिए सार्थक होता है।

त्यागमय जीवन से ही वास्तविक सुख की उपलब्धि होती है। त्यागी महात्मा पुरुष को त्रिविधशांति प्राप्त होती है। वह

आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों सुखों का उपभोग करता है। स्वार्थी पुरुष के मन में संतोष तो होता ही नहीं। इस लिये आध्यात्मिक तथा आधिदैविक शांति तो उसे मिल ही नहीं सकती, परंतु उसे आधिभौतिक सुख मिलता है, इस में भी संदेह है। भौतिक पदार्थों का भोग करते-करते उनका सुख भी जाता रहता है। जिस प्रकार अधिक मीठा खाने से मिठास का स्वाद नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ का अधिक भोग करना, उस के वास्तविक सुख से मनुष्य को वञ्चित कर देता है। आधिभौतिक सुख भी वास्तव में त्यागपूर्वक भोग करने वाले को ही प्राप्त होता है। त्यागी पुरुष त्रिविध सुख का भोग करता है।

## (7)

## दक्षिणा से भौतिक सम्पत्ति की भी प्राप्ति होती है

**दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।**
**दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विज्ञानन्॥७॥**

अर्थ-(दक्षिणा) यज्ञार्थ किया हुआ दान (अश्व) घोड़े को, (दक्षिणा) यज्ञार्थ किया हुआ दान (गां) गौ को, (उत) और (दक्षिणा) यज्ञार्थ किया हुआ दान (चन्द्रं) सुवर्ण को (यत् हिरण्यं) जो कि दिल को प्यारा लगता है (ददाति) प्रदान करता है। (दक्षिणा) यज्ञार्थ किया हुआ दान (अन्नं) अन्न को (वनुते) प्रदान करता है। (यः) जो अन्न (नः) हम सब का (आत्मा) जीवन है। (विजामन्) ज्ञानी पुरुष (दक्षिणां) यज्ञार्थ किये हुए दान को (वर्म) अपनी रक्षा का साधन कवच (कृणुते) बना लेता है।

पहले मंत्रों में दक्षिणा के, यज्ञार्थ त्याग के उत्कृष्ट फल

बताये हैं। दक्षिणा से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। वह अपने में किसी दिव्य वस्तु की पूर्ति अनुभव करने लगता है। उस का आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन उन्नत हो जाता है। परंतु जिन पुरुषों को मोक्ष की, आध्यात्मिक उन्नति की इच्छा नहीं उत्पन्न होती, जो अपने सामाजिक जीवन (Public Life) की उन्नति के लिये भी उत्कण्ठित नहीं होते, जिन की एक मात्र इच्छा अपने पास सब ऐशो इशरत का, भोग विलास का समान एकत्रित करके स्वयं मजे उड़ाने की होती है, जो पुरुष इन्हीं में सुख मानते हैं, उन से इस मंत्र में कहा गया है कि हे मनुष्यो! यदि तुम्हें मोक्ष की, आध्यात्मिक उन्नति की अथवा सामाजिक जीवन के बड़पन्न की भी अभिलाषा नहीं, केवल सोना चांदी, गाय घोड़े तथा अन्न आदि की प्राप्ति की ही इच्छा है तो वह भी तुम्हारी इच्छा दक्षिणा से अच्छी तरह पूर्ण होगी। यह ज्ञज्ञ तो 'इष्टकामधुक्' है। उस गौ की जिस उद्देश्य से, जिस कामना से उपासना करोगे वही कामना तुम्हारी पूर्ण हो जाएगी। यदि केवल इन्हीं भौतिक भोग्य पदार्थों की ही कामना है तो भी यज्ञ-संगठन द्वारा तुम इन्हें प्रभूत मात्रा में प्राप्त कर सकते हो।

दक्षिणा से भौतिक सम्पत्ति की वृद्धि होती है, इस बात को अन्य देशवासी प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। लोग परस्पर मिलकर व्यापारिक क़म्पनियाँ, कारखाने आदि खोल रहे हैं। प्रत्येक कम्पनी के हिस्सेदार (Share holders) एक प्रकार से हिस्से के रूप में अपनी दक्षिणा दे रहे हैं। जो काम एक-एक व्यक्ति एकाकी नहीं कर सकता, उसी काम को कुछ व्यक्ति मिल कर अपना-अपना हिस्सा (share) देकर पर्याप्त पूंजी एकत्रित हो जाने पर बड़ी सरलता से कर सकते हैं। पारस्परिक सहयोग (Co-operation) से बड़े-बड़े कारोबार दुनिया में चल रहे हैं और लोग प्रभूत मात्रा में रुपया पैसा कमा रहे हैं।

इसी तरह घोड़े गौ वगैरह की अच्छी नस्ल उत्पन्न करने के लिए सम्मिलित प्रयत्न हो रहे हैं। एक कार्य में अब भिन्न-भिन्न तरह की शक्ति तथा प्रतिभा वाले पुरुषों का सहोद्योग होता है, तब वह कार्य बड़ी निपुणता पूर्वक तथा सुगमता से निष्पन्न हो जाता है। पाश्चात्य देशों की आर्थिक उन्नति का रहस्य इसी बात में छिपा हुआ है। कृषि वगैरह की उन्नति के लिए स्थान-स्थान पर सहयोग समितियाँ (co-operative societies) तथा बैंक खुल रहे हैं। रूस में कृषि को भी बड़े रूप में (Large Scale) में किया जाना प्रारम्भ हुआ है। तीन-तीन हजार एकड़ के बड़े-बड़े कृषि क्षेत्र (Agricultural farm) बोये जाते हैं। और उस में हजारों किसान एक साथ काम करते हैं। जिस जमीन के एक टुकड़े को पहले एक किसान पूरा नहीं जोत पाता था अब सम्मिलित कार्य करने से प्रति व्यक्ति के हिसाब से उस से अधिक जमीन एक किसान जोत लेता है। आमदनी भी पहले से अधिक हो गई है। रहन सहन भी पहले से उत्कृष्ट हो गया है। उसी का यह प्रभाव है कि वही रूस जो पहले ज़ार के शासनकाल में भूखों मरता था आज दूसरे देशों में सस्ते दामों में अपना गेहूँ बेचने के लिए समर्थ हो सकता है। वहाँ शिक्षा की आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। रूस ने सहोद्योग यज्ञ का प्रत्येक क्षेत्र में उपयोग उठाया है। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी सामूहिक यज्ञ का दक्षिणावान् (Shareholder) है। जो सामूहिक यज्ञ यूरोप में प्रायः पूंजीपतियों द्वारा सम्पादित होता है, वही रूस में प्रति व्यक्ति करता है। परंतु हम भारतवासियों में इसकी बहुत कमी है। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश होता हुआ भी धन धान्य की उत्पत्ति में अमेरिका, रूस आदि देशों से बहुत पिछड़ा हुआ है। हम गौरक्षा का नाम तो बहुत लेते हैं परंतु दिन प्रतिदिन हमारे देश में गौओं की, घी दूध

की कमी हो रही है। हमने गोमेध के लिये दक्षिणा देने का शुभ संकल्प ही नहीं किया। हम ने सम्मिलित यज्ञ करने की आवश्यकता को अनुभव ही नहीं किया। पारस्परिक अविश्वास की मात्रा के अत्यधिक होने के कारण हम सम्मिलित यज्ञ में दक्षिणा दे ही नहीं सकते। प्रत्येक मनुष्य अपने छोटे से जमीन के टुकड़े पर दिन रात मेहनत करता हुआ भी पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। हम भारतवासियों को अभी यज्ञ की दीक्षा लेने की आवश्यकता है। परंतु हमारा यज्ञ पूंजीवाद पर आश्रित नहीं होना चाहिये। उस का संगठन यज्ञ कहलाने योग्य नहीं। क्योंकि उसका उद्देश्य देवपूजा नहीं। वहाँ तो स्वार्थ लोभ आदि असुरों की पूजा की जाती है। मजदूरों का खून चूस-चूस कर बड़े-बड़े व्यापार संघ स्थापित किये जाते हैं। और उनके द्वारा दूसरों की कमाई को छीना (exploit) जाता है। बहुत से बड़े-बड़े व्यापारी इसी उद्देश्य से कम्पनियाँ स्थापित करते हैं कि देश में चलने वाली छोटी कम्पनियों का स्थान ले लिया जावे। जिस सम्पत्ति का उपभोग सैकड़ों आदमी कर रहे होते हैं, उस को थोड़े से व्यापारी स्वयं भोगना चाहते हैं। मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के पवित्र उद्देश्य से वे यज्ञ नहीं चलाए जाते। जब एक जन-समुदाय अपनी संगठन शक्ति का दुरुपयोग करके अपने देश में या विदेश में चलाए जाने वाले कई छोटे-छोटे यज्ञों के ध्वंस करने का प्रयास करते हैं, उस समय ज्ञानी पुरुष भी उसके प्रतिकार में एक संगठन यज्ञ करते हैं- **'दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्।'** ऐसे आक्रमणों से बचने का एकमात्र उपाय कुछ स्वार्थ त्याग करके सामूहिक यज्ञ सम्पादन करना ही है। आज पूंजीपतियों के व्यापारिक संगठन गरीबों के व्यापार को नष्ट करने के लिये, उनके चलाये हुए छोटे-छोटे यज्ञों को (Small scale industries) को विध्वंस करने के

लिये निरंतर चेष्टा कर रहे हैं। इस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है। इसका हमारे पास एक सहज उपाय है। यदि हम दक्षिणा के कवच को पहिन लें तो शत्रुओं के तीक्ष्ण से तीक्ष्ण अस्त्र भी हमारा नाश नहीं कर सकते। यह एक अमोघ शस्त्र है। हमें अपने व्यापारिक संघ बनाने होंगे। उन में अपनी दक्षिणा देनी होगी। यद्यपि उनके वस्त्र वगैरह हमें कम कीमतों पर मिल सकते हैं, तथापि अपने यज्ञों को जीवित रखने के लिए, उन के लिए अधिक खर्च करके भी अपनी दक्षिणा देकर हमें उन्हें पूंजीपतियों के आक्रमणों से बचाना होगा। वेद में एक अन्य स्थान पर उपदेश दिया है–'हे मनुष्यो! परस्पर एकमात्र होकर सख्य भाव धारण करते हुए अपने को पहिचानो। एक ही देश (घर) में रहने वाले बहुत सारे इकट्ठे होकर यज्ञ करो।'........[1] हे मनुष्यो! संगठन करो। यह संगठन ही तुम्हारा रक्षक है......।[2]

इसी सूक्त में आत्म रक्षा अथवा राष्ट्र की उन्नति के अन्य बहुत से उपायों का, यज्ञों का वर्णन किया गया है। इस दृष्टि से यह सूक्त मनन करने योग्य है। परन्तु इस बात को हमें सदा ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे संगठन यज्ञ पवित्र उद्देश्य से संचालित हो। उद्देश्य देवपूजा होना चाहिये। यज्ञ का उपयोग अपने वा राष्ट्र के अभ्युदय के लिये अथवा परराष्ट्रों के आक्रमणों से अपने आप को सुरक्षित रखने के लिए करना चाहिये। दूसरों की हिंसा करने या उनके सुखों को नष्ट करने के लिए जो संगठन किये जायेंगे उन में यज्ञत्व नष्ट हो जायगा। दक्षिणा नाम ही यज्ञार्थ त्याग का है। जो बुरे भाव से संगठन

1. उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः सनीडाः।
ऋ० 10.101.1

2. वृजं कृणुध्वं सं हि बो नपाणः। ऋ० 10.101.8

किये जाते हैं, वे यज्ञ नहीं और उनके लिए दान करना भी दक्षिणा नहीं कहलाई जाती। हमें तो दक्षिणावान् बनने का दृढ़ संकल्प करना चाहिये। तभी हम सुगन्धि युक्त तथा पुष्टिवर्धक यज्ञ कर सकते हैं।

## (8)

## दक्षिणा देने से पुरुष की सम्पत्ति नष्ट नहीं हो जाती

**न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्नरिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।**
**इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति॥८॥**

अर्थ–(भोजाः) दानी पुरुष (न मम्रः) दान देने से मरते नहीं। और (न न्यर्थ ईयुः) न ही हीन अवस्था को प्राप्त होते हैं। (भोजाः) दानी पुरुष (न रिष्यन्ति) न कभी हिंसित होते हैं और (न ह व्यथन्ते) न किसी तरह का कष्ट ही पाते हैं। क्योकि (इंद यत् विश्वं भुवनं) यह जो सम्पूर्ण संसार है (च) और (स्वः) उसका सुख है। (एतत् सर्व) वह सब (दक्षिणा) यज्ञार्थ किया हुआ त्याग (एभ्यः) इन दानी पुरुषों को (ददाति) प्रदान करता है।

इस मंत्र में मनुष्य की एक स्वाभाविक शंका का उत्तर दिया है। दा़न देते हुए मनुष्य सोचता है कि यदि मैंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति परोपकार में ही व्यय कर दी तब मैं तो भूखा मर जाऊँगा। अपनी सारी सम्पत्ति लुटा बैठूँगा। मेरी अवस्था बदतर हो जायगी। मैं अपनी आवश्यकताओं को कैसे पूर्ण कर सकूँगा? क्या मुझे अपने खाने पीने के लिए दूसरों से मांगना पड़ेगा? मैं अपने बाल बच्चों की परवरिश किस तरह कर सकूँगा? इतने बड़े घर बार मालिक, गुज़ारा कैसे होगा? यज्ञार्थ दान से तो मैं भूखा मर जाऊँगा। सारा जीवन दुःख वा कष्ट से

गुजारना पड़ेगा। इस प्रकार के विचार बहुधा मनुष्य के मन को अस्थिर कर दिया करते हैं। इन्हीं विचारों से अभिभूत होकर मनुष्य अपनी आत्मा को संकुचित कर लेता है और यज्ञार्थ देने में कष्ट मानता है।

यदि मनुष्य गंभीरता से विचार करे कि यज्ञार्थ दक्षिणा देने से क्या वह हीन व कष्टमय अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो वह सचमुच अनुभव करेगा कि यज्ञ तो 'इष्टकामधुक्' है। इस में दिया हुआ धन घटता नहीं, परंतु बढ़ता है। यदि तो मनुष्य सम्पत्ति की कामना से यज्ञ रचना करता है और उस में दक्षिणा देता है, तब तो निःसन्देह सहोद्योग आदि रूप यज्ञों में लगाए धन की वृद्धि ही होगी। दक्षिणा देने वालों की अवस्था उन्नत ही होगी। पिछले मंत्र से पाठक गण अच्छी तरह समझ गए होंगे कि दक्षिणा से हमें गौ, अश्व, सोना तथा अन्न आदि सभी भौतिक भोग्य वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। परंतु यदि मनुष्य प्रतिफल की कामना का त्याग करके निष्काम भाव से, केवल परोपकार के लिए, दान करे तो भी वह भूखा नहीं मर सकता। सकाम दक्षिणा से निष्काम दक्षिणा का अधिक महत्व है। सकाम दक्षिणा देने से प्रतिफल में मनुष्य को जो कुछ प्राप्त होता है, निष्काम दक्षिणा देने से उस से भी अधिक प्राप्त होता है। यदि मनुष्य किसी कामना विशेष से किसी यज्ञ का, सहोद्योग आदि का कार्य करे तो प्राप्ति का स्रोत परिमित होता है। परंतु जब मनुष्य केवल परोपकार के लिए अपनी सम्पत्ति का व्यय कर देता है तो उस के प्रतिफल में सब लोग उस के लिए सब उपहार लाते हैं। जो मनुष्य स्वयं औरों के लिए सर्वस्व न्योछावर करने के लिए उद्यत रहता है, लोग उस के लिए भी सब कुछ न्योछावर करने के लिए तत्पर रहते हैं। सर्वमेध यज्ञ करने वाला सब कुछ त्याग करता हुआ सब कुछ

प्राप्त कर लेता है। यज्ञवाची 'मेध' शब्द में इस सत्य को बड़े सुन्दर रूप में रखा गया है। धातुपाठ में इसका अर्थ लिखा है–**'मेधृ हिंसायां च।'** 'च' से 'संगम' का ग्रहण होता है। मेध में, यज्ञ में जितना 2 अपनी सम्पत्ति की हिंसा करते हैं, उसका त्याग करते हैं, त्यों 2 सम्पत्ति का संगम, प्राप्ति होती जाती है। जिस ने सर्वमेध कर के सब कुछ त्याग दिया, ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण ऐश्वर्य  वह प्राप्त कर लेता है। इसीलिए हमारे प्राचीन धर्म शास्त्रों में सच्चे ब्राह्मण के लिए लिखा है–**'सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यतिकञ्चिज्जगती गतम्।'** अर्थात् संसार में जो कुछ है वह सब त्यागी ब्राह्मण की सम्पत्ति है। महात्मा बुद्ध, महर्षि दयानन्द तथा वर्तमान में महात्मा गांधी ने परोपकार के लिए अपनी सारी सम्पत्ति त्याग दी, परंतु लोग अपनी विविध सम्पत्ति उन की सेवा में उपस्थित करते हैं। उन का भूखा मरना तो दूर रहा, जनता उनकी प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण करती है। उनके लिए खर्च करते हुए मनुष्य अपना सौभाग्य समझते हैं। उनके लिए तो लोग उनकी आकांक्षा से भी अधिक न्योछावर करते हैं। इसलिए यह समझना कि सब कुछ त्याग देने से मैं भूखा मर जाऊँगा, मेरी आवश्यकताएँ पूर्ण न हो सकेंगी, मूर्खता है। जो मनुष्य औरों के लिए त्याग कर सकता है, उसके लिए और मनुष्य भी त्याग कर सकते हैं। यह मनुष्य जाति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सर्वमेध यज्ञ का कर्ता केवल सम्पूर्ण सम्पत्ति को ही प्राप्त नहीं करता, प्रत्युत इसके सुख को भी भोगता है जो मनुष्य त्याग करना नहीं जानते वे अतुल सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी उस का सुख नहीं भोग सकते। उन में उसके लिए मोह बुद्धि होती है। इस कारण वे उसके योग क्षेम की चिंता में सदा मग्न रहते हैं। परंतु त्यागी पुरुषों का मोह तो इन से छूट ही जाता है और आवश्यकता पड़ने पर सब वस्तुएँ उन्हें प्राप्त हो

जाती हैं। इसलिए यज्ञार्थ दक्षिणा देने से कभी संकोच नहीं करना चाहिये। इस तथ्य को हमें अपने हृदय में गाड़ लेना चाहिये कि–

**"इंद यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति।"**

**(९)**

## दक्षिणावान् का गृहस्थ सुखमय होता है

**भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं या सुवासाः।**
**भोजा जिग्युरन्तः पेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति॥९॥**

अर्थ (भोजाः) दानी पुरुष (अग्रे) सब से पहले (सुरभिं योनिं) उत्तम गृहस्थ को (जिग्युः) जीत लेते हैं। (भोजाः) दानी पुरुष (वध्वं) वधू को (जिग्युः) जीत लेते हैं। (या सुवासाः) जो वधू शोभन वस्त्र धारण करने वाली होती है–कुलीन घराने की होती है। (भोजाः) दानी पुरुष (सुराया) ऐश्वर्य के (अन्तः पेयं) अन्तर्लीन सार को वास्तविक सुख को (जिग्युः) जीत लेते हैं (ये) जो सुख (अहूता) बिना बुलाये (प्रयन्ति) आ जाते हैं।

जो पुरुष दूसरों को सुखोपभोग कराते हैं, उन्हें दान करते हैं उन का गृहस्थ भी उत्तम चलता है। यद्यपि गृहस्थ की आवश्यकताएँ देख कर हमें कुछ संदेह हो सकता है कि दान करने से गृहस्थ किस प्रकार सुरभित हो सकता है। वहाँ तो धना-भाव में कलह तथा अशांति रहेगी। परंतु गृहस्थ का वास्तविक सुख त्यागमय भोग में है। गृहस्थी का कर्तव्य शेष तीनों आश्रमों को परिपुष्ट करना है। वैसे तो गृहस्थ में जितना व्यय किया जावे उतना कम है, परंतु त्याग की भावना रखने से जीवन भोगमय नहीं बनता। दूसरों को दान देते हुए आत्म संतोष होता है और परिवार के सदस्य स्त्री पुरुष, भाई बहिन–एक दूसरे के लिये

त्याग करने को उद्यत रहते हैं। जिस गृहस्थ में लोग परोपकार कार्य में दान नहीं कर सकते उस गृहस्थ के व्यक्ति अपने घर में एक दूसरे के लिए भी त्याग नहीं कर सकते। उन में स्वार्थ सर्वत्र प्रबल रूप में कार्य कर रहा होता है। इस कारण घर में पारस्परिक प्रेम का पवित्र सुरभित जीवन नहीं रहता। त्यागी दानी पुरुष कुलीन कन्याओं के हृदय को जीत लेते हैं। कन्या का हृदय उनके प्रति आकृष्ट हो जाता है। सम्पत्ति का होना गृहस्थ के सुख का मूल हेतु नहीं परंतु संतोष, जिसमें त्याग अन्तर्निहित है—सुख का स्रोत है।

दानी पुरुष धन सम्पत्ति के अन्तर्लीन सार का अमृतपान करते हैं। सर्वसाधारण पुरुष सम्पत्ति के मोह में फंस कर उस का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। जितनी सम्पत्ति उन के पास आती है, उस से उन को संतोष नहीं होता। वे उसे एकत्रित करते रहते हैं। अपनी सम्पत्ति को समाप्त होते हुए (चाहे वह उन के निज भोग से अथवा दूसरों के उपभोग से समाप्त हो रही हो) देख कर उन्हें दुःख होता है। धन से वे इतना सुख नहीं भोग सकते जितना दुःख भोगना पड़ जाता है। परंतु दानी पुरुष जिन्हें धन सम्पत्ति से मोह नहीं रहा, जो उस के दान करने से आत्म-संतोष अनुभव करते हैं, उन्हें सम्पत्ति का वास्तविक मुख उपलब्ध होता है। स्वयं भोग करने का लोभ उन्हें रहता ही नहीं। मोह नष्ट हो जाने से धन का दुख भी उन्हें नहीं होता। दान करते हुए तो दुःख के बजाय उन्हें आत्म प्रसाद होता है। धन की यही तीन अवस्थाएँ हैं—भोग, विनाश तथा दान। इन तीनों अवस्थाओं में उसे दुःख नहीं होता। कोई भी पदार्थ स्वयं सुख दुःख का हेतु नहीं। एक ही वस्तु एक मनुष्य को सुख देती है और दूसरे को दुःख। अनुकूल वेदनीयता का नाम सुख है और प्रतिकूल वेदनीयता का नाम दुःख है। वेदना

(ज्ञान) मन का विषय है। मन की भावना से ही वस्तुओं में सुख दुःख का अध्यास होता है। जिस ने अपने मन को इस तरह सिद्ध कर लिया है कि उसे वस्तुओं से मोह नहीं रहा, उस के लिए वह वस्तु सुख का कारण है तथा औरों के लिए दुःख का।

दानी पुरुष जिन वस्तुओं की कामना करता है, वह तो उसे प्राप्त होती हैं। इस के अतिरिक्त अन्य भी उत्तम 2 पदार्थ जो वह नहीं मंगाता वे भी लोग उन की भेंट कर जाते हैं। यद्यपि ऐसे त्यागी पुरुष इन वस्तुओं को वाणी द्वारा नहीं मांग रहे होते, परंतु उन के कर्म, उन का त्यागमय जीवन लोगों को विविध पदार्थ समर्पित करने के लिए बाधित कर रहा होता है वे त्यागी पुरुष बिना मांगे पदार्थों को भी जीत रहे होते हैं—'बिन मांगे मोती मिले।'

## (10)

## लोग दक्षिणावान् की सब तरह सेवा शुश्रूषा करते हैं

**भोजायाश्वं संमृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना।**
**भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्॥१०॥**

अर्थ—लोग (भोजाय) दानी पुरुष के लिये (आशु अश्वं) शीघ्रगामी घोड़ा (सं मृजन्ति) सजाते हैं। (भोजाय) दानी पुरुष के लिये (शुम्भमाना कन्या) सुंदर कन्या (आस्ते) प्रतीक्षा करती रहती है। (भोजस्य) दानी पुरुष का (इंद वेश्म) अपना घर (पुष्करणीव परिष्कृतं) कमल वाले तालाब की तरह सुशोभित और (देवमानेव चित्रं) देवनिर्मित घर की तरह अलंकृत होता है।

दानी त्यागी पुरुष जहाँ-जहाँ जाता है, लोग उसका स्वागत करते हैं। उसकी सवारी के लिए उत्तम-उत्तम घोड़े सजाते हैं, बढ़िया टमटम तथा मोटरें उसके लिये लाते हैं। वह पुरुष

नर-नारी सब की श्रद्धा का पात्र बन जाता है। कुमारी कन्याएँ उसे अपना जीवन संगी बनाने के लिये उत्कण्ठित रहती हैं (He becomes the envy of many but pride of one) लोग उस के लिये खूब सुंदर निवास-स्थान बनवा देते हैं। श्रद्धातिरेक के कारण सम्पूर्ण कला विज्ञान उसके निवास-गृह के लिये लगा दिया जाता है। दानी पुरुष को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने पाता।

## (11)
## दक्षिणा का रथ

**भोजमश्वाः सुष्ठु वाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।**
**भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्सम नीकेषु जेता ॥११॥**

अर्थ-(भोजं) दानी पुरुष को (अश्वाः) इन्द्रिय रूप घोड़े[1] (सुष्ठु वाहा) अच्छी तरह सवारी देने वाले होते हुए(वहन्ति) सवारी देते हैं। क्योंकि (दक्षिणायाः) दक्षिणा का (रथः) रथ (सुवृत्) अच्छी तरह घूमने वाला (वर्तते) होता है। (देवासः) सब देव (भरेषु) जीवन संग्रामों में (भोजं) दानी पुरुष की (अवत) रक्षा करते हैं। (भोजः) दानी पुरुष (समनीकेषु) जीवन संग्रामों में (शत्रून्) शत्रुओं को (जेता) जीतने वाला होता है।

सूक्त की समाप्ति करते हुए पुनः दक्षिणा की महिमा बताई है। यहाँ अश्व शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है। उपनिषदों में इन्द्रियों को अश्व कहा गया है। जिस प्रकार रथ को ले जाने वाले अश्व होते हैं, उसी प्रकार शरीर रूपी रथ को इन्द्रियाँ ले जाती हैं। ये इन्द्रियाँ जिन के वश में होती हैं वे लोग आराम से जीवन यात्रा समाप्त करते हैं। उन्हें इन्द्रिय रूपी अश्व अच्छी

1. इन्द्रियाणि हयानाहुः। कठ० 1.3.4

तरह सवारी देते हैं। एवमेव दानी पुरुष को भी ये अश्व अच्छी तरह सवारी देने वाले होते हैं। क्योंकि दानी पुरुष जिस रथ में बैठ कर जीवन यात्रा करता है, वह रथ दक्षिणा का है। यह दक्षिणा का रथ बड़े आराम से घूमने वाला है। अश्वों को इस के खींचने में कष्ट नहीं होता। जो पुरुष त्यागमय जीवन व्यतीत करते हैं, उन्हें इन्द्रियाँ विषम मार्ग पर नहीं ले जा सकतीं। सब अनर्थों का मूल विषयासक्ति है। इसी विषयासक्ति के कारण काम क्रोध लोभ मोह उत्पन्न होते हैं। जब मन रूपी लगाम में अथवा बुद्धि रूपी सारथी में इन का आश्रय हो जावे तो इन्द्रिय रूप अश्वों का मार्गच्युत हो जाना बहुत सरल है। जब मनुष्य में त्याग भावना नहीं होती तो बाह्य विषय जल्दी ही उसे आकृष्ट कर लेते हैं। इन्द्रियाँ रस की ओर प्रवृत्त हो जाती हैं। इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती और वे मनुष्य को मार्गच्यतु कर देती हैं। जो मनुष्य त्याग के रथ पर सवार है, उसे इन्द्रिय–अश्व मार्ग च्युत नहीं कर सकते। क्योंकि उस त्यागी पुरुष का मन ही विषयों की ओर नहीं झुकता। इन्द्रियाँ मन के इशारे पर चलने वाली होती हैं। जब मन ही विषयों में अनासक्त है तो इन्द्रियाँ उधर कैसे प्रवृत्त हो सकती है।

मनुष्य के जीवन में सदा देवासुर संग्राम होता रहता है। इसी देवासुर संगाम का कथानक रूप में शतपथ ब्राह्मण में बहुत वर्णन पाया जाता है। कभी मनुष्य विषयों में आसक्त होकर उन्हीं में आनन्द मानने लगता है और कभी सत्य अहिंसा, तप, प्रेम, आदि को परमोत्कृष्ट वस्तु समझता है। मनुष्य में सत्य अहिंसा, तप, प्रेम आदि, देव हैं और मिथ्या, हिंसा, लोभ मोह निष्ठुरता आदि असुर हैं। इन का सदा संग्राम होता रहता है। इन्हीं के कारण से मनुष्य की प्रवृत्ति कभी श्रेय मार्ग की तरफ, और कभी प्रेय मार्ग की तरफ होती रहती है।

| **श्रेय मार्ग** | **प्रेय मार्ग** |
|---|---|
| देव | असुर |
| त्याग | भोग |
| अहिंसा | हिंसा |
| शान्ति | क्रोध |
| तपस्या | भोग विलास |

परंतु दक्षिणा देने वाले त्यागी पुरुषों की देव रक्षा करते हैं। क्योंकि सब अनर्थों का मूल विषयासक्ति है। मनुष्य की यह इच्छा कि प्रत्येक वस्तु मेरी हो जावे उस में पाप भावना को, असुरों को, उत्पन्न करती है। अपनी उस इच्छा को पूर्ण करने के लिये मनुष्य हित अहित का विचार न करके सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन कर लेता है। यदि उस वस्तु की प्राप्ति के लिए उसे असत्य बोलना पड़ जाय अथवा चोरी करनी पड़े या किसी की हत्या भी करनी पड़े तो वह उस में संकोच नहीं करता। एक मात्र स्वार्थ के, विषयासक्ति के उदय हो जाने से असत्य स्तेय, हिंसा आदि पाप वृत्तियों का प्रादुर्भाव स्वयं होने लगता है। परंतु यदि मनुष्य अपनी त्याग भावना को प्रबल करले, विषयासक्ति से अपना मन हटाले तो विषयासक्ति या स्वार्थ के जाते ही सब असुर-काम क्रोध लोभ मोह आदि सभी शत्रु स्वयं विलीन हो जाते हैं। त्यागी पुरुष इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है।

देवों की माता अनासक्ति-त्याग-है और असुरों की माता आसक्ति है। यदि हम देव बनना चाहते हैं तो हमें अपना जीवन त्यागमय बनाना होगा, उस के लिये हमें यज्ञार्थ दक्षिणा देने का अभ्यास करना होगा। त्यागमय जीवन बनाने का यह एक सोपान है। तभी हम असुरों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, और सुख मय जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

# दान-सूक्त

## (1)

## दान देने से धन घटता नहीं

**न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददु रुताशितमुपगच्छन्ति मृत्युवः।**
**उतो रयिः पृणतो नोपदस्य त्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥१॥**

अर्थ–(वै) निश्चय से (देवाः) देवता (क्षर्ध इत्) भूखे को ही (वधं) मृत्यु (न ददुः) नहीं देते। (उत) प्रत्युत (आशितं उप) खाने वाले के समीप भी (मृत्यवः) मृत्युएँ (गच्छन्ति) पहुँचती हैं। (उत) और (पृणतः) दानी पुरुष का (रयिः) धन (उपदस्यति) नष्ट नहीं होता। (उत) अपितु (अपृणन्) दान न देने वाला पुरुष(मर्डितारं) सुख पहुँचाने वाले को (न विन्दते) नहीं प्राप्त करता। अर्थात् कृपण पुरुष को कोई सुख नहीं देता।

अग्नि, सूर्य वायु, आदि देव ही मनुष्य को अन्न प्रदान करते हैं। कृषि के देवता सूर्य और वायु (शुना सीरौ) माने गए हैं क्योंकि मुख्यतः इन दो तत्वों पर कृषि का अवलम्बन होता है। पृथिवी, जल तथा अन्तरिक्ष भी तो स्पष्ट रूप से कृषि द्वारा, अन्न प्रदान करने वाले हैं। देवाधिदेव परमात्मा, जो इन सब पंच तत्वों में अपनी-अपनी शक्ति देता है, हमें भी अन्न धन आदि प्रदान करता है। ये दोनों जीवन रक्षा के परम साधन हैं। इस के लिए जिन के पास अन्न अथवा धन मौजूद है, वे वस्तुतः जीवन की मुख्य वस्तु को अपने समीप रखे होते हैं। इस के द्वारा वे प्राणिमात्र को जीवन दान कर सकते हैं। परंतु उन को

यह नहीं समझना चाहिये कि जो आदमी निर्धन हैं वे परमात्मा ने भूखे मरने के लिए ही उत्पन्न किये हैं। मृत्यु तो समान रूप से सब को कष्ट देती है। डाक्टरों का कहना है कि संसार में भूख से इतने आदमियों की मृत्यु नहीं होती जितनी अधिक भक्षण से मृत्यु होती है। जिस के पास धन नहीं वह भूखा मरने के लिए उत्पन्न हुआ है और जिस के पास धन है वह उस सम्पूर्ण धनराशि का स्वयं भोग करने के लिए परमात्मा ने उत्पन्न किया है—ऐसा नहीं समझना चाहिये। संसार का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उस प्रभु का है। वही इस का वास्तविक स्वामी है। मनुष्य को तो धरोहर रूप में थोड़ा बहुत धन मिला हुआ है। इसलिए मनुष्य को लोभ नहीं करना चाहिये—'**मागृधः कस्य स्विद्धनम्।**' मनुष्य को सदा यही समझना चाहिये कि यह धन परमात्मा की धरोहर है। यह धन परमात्मा के सभी पुत्रों के लिए व्यय होना चाहिये। जिस प्रकार राजा अपने राज्य में कुछ पुरुषों को कोषाध्यक्ष (Finance member) आदि बना देता है, जिनका काम राष्ट्र के व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करना होता है, उसी प्रकार धनी पुरुषों को भी अपने को परमात्मा का एक कोषाध्यक्ष ही समझना चाहिये। उस परमात्मा की सम्पत्ति को उस के पुत्रों के सद्व्यय के लिए उन्हें प्रदान कर देना चाहिये।

दान देने से धन नष्ट नहीं हो जाता। जिस प्रभु ने अब तक धन दिया है, वह आगे भी देता रहेगा। जो उत्तम कोषाध्यक्ष का कार्य सम्पादन करेगा वही एक प्रकार से अपने पद पर स्थिर रहेगा। जिस प्रकार मनुष्य अपने लिये खर्च करता हुआ धन का नाश नहीं समझ रहा होता उसी प्रकार उस को दूसरों के लिए देते हुए भी धन का नाश नहीं समझना चाहिये। उसे तो यही विचारना चाहिये कि मैंने अपने भाई के लिए व्यय किया है। अन्यथा धन से सुख नहीं मिलता। जो पुरुष दूसरों को

सुख पहुँचाने के लिये अपनी कमाई का कुछ अंश भी दान नहीं कर सकता, दूसरे पुरुष भी स्वभावत: उस के सुख दु:ख में सम्मिलित नहीं होंगे। साधारणतया उपेक्षा भाव रहता है। परंतु यदि धनवान् इतना अधिक कृपण हो कि काणी कौडी भी परोपकारार्थ व्यय न करता हो तो वह समाज में अपने से सहानुभूति रखने वाला भी नहीं रखता।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि जहाँ तक हो सके अपनी कमाई का पर्याप्त भाग परोपकार के लिए व्यय करता रहे। भारतवर्ष की यह भूमि सदा से त्याग की तपोमय भूमि प्रसिद्ध रही है। इतिहास में इस मनोवृत्ति के लाखों पुरुषों का जीवन हमारे लिये आदर्श उपस्थित करने वाला हो सकता है।

## (2)
## हृदय कठोर नहीं होना चाहिये

**य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।**
**स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते॥२॥**

अर्थ:–(य:) जो पुरुष (अन्नवान् सन्) धन धान्य से युक्त होता हुआ भी (आध्राय) अत्यन्त निर्धन, (पित्व: चकमानाय) अन्न की भिक्षा मांगने वाले (रफिताव) अत्यन्त दुर्बल तथा (उप जग्मुषे) अपने द्वार पर आये हुए व्यक्ति के लिये (मन:) अपने हृदय को (स्थिरं) कठोर (कृणुते) कर लेता है। (उत) और (पुरा चित्) उस के सामने ही (सेवते) भोग करता है। (स) वह कठोर–हृदय पुरुष(मर्डितारं) सुख पहुँचाने वाले को (न विन्दते) नहीं प्राप्त करता।

जब मनुष्य में लोभ की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है और वह धन के मद में उन्मत्त हो जाता है तब वह मनुष्यत्व से भी पतित हो जाता है। एक अत्यन्त क्षीणकाय दर–दर भटकने वाले

निर्धन भिखारी पुरुष की करुणामय अवस्था देख कर भी उस का पाषाण हृदय द्रवित नहीं होता। स्वयं अच्छा समृद्धिशाली होता हुआ भी उसे अन्न नहीं देता। जहाँ भिखारी दाने-दाने को तरस रहा हो, दर2 भटक रहा हो, भूख के मारे उसका पेट पीठ से चिपक रहा हो, सारा शरीर सूख कर कांटा हो रहा हो, वहाँ एक रईस अपना पेट बढ़ाए मकान पर बैठा हुआ यथेच्छ माल उड़ा रहा हो और उस हीन-अवस्था प्राप्त भिखारी को देने के विपरीत धुत्कार रहा हो, उस के सामने ही स्वयं भोग उड़ाता जावे, वह कितना अमानुषिक हृदय होगा! आज इस पराधीन निर्धन देश में कितने ही लोगों को भरपेट रोटी खाने को नहीं मिलती। भारतवासियों की औसतन आमदनी 13 पाई हो गई है। परंतु साथ ही कुछ ऐसे पुरुष भी हमारी समाज में हैं, जिन के पास परमात्मा की कृपा से अतुल सम्पत्ति है। लेकिन उस सम्पत्ति को धर्मार्थ व्यय करने वाले बहुत ही थोड़े हैं। सम्पत्ति का यज्ञशेष खाने वाले तो हम में से विरले ही मिलेंगे। वास्तविक सुखी तो वही यज्ञशेष खाने वाले ही हैं। वे सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाते हैं-**"यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषै।"** परंतु वे पुरुष जो लोभ की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए हैं, जो अत्यन्त हीन क्षीण दुखिया को भी नहीं दे सकते, दुनिया में उन का कोई सच्चा मित्र नहीं, सहायक नहीं, सहानुभूति रखने वाला नहीं।

## (3)

## सच्चा दानी

**स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।**
**अरमस्मै भवति यामहूताउतापरीषु कृणुते सखायम्।।३।।**

अर्थः—(स इत्) वही पुरुष ही (भोजः) वास्तव में दानी है, (यः) जो (अन्नकामाय) अन्न की कामना करने वाले (चरते) इधर उधर भटकते हुए (कृशाय) दुर्बल (गृहवे) भिखारी के लिये (ददाति) दान करता है। (यामहूतौ) यज्ञों में (अस्य) ऐसे दानी पुरुष को (अरं भवति) पर्याप्त सुख प्राप्त होता है। (उत) और वह (अपरीषु) शत्रुओं में भी (सखायं कृणुते) मनुष्यों को अपना मित्र बना लेता है।

सकाम भाव से दिया हुआ दान सात्विक दान नहीं कहलाता। वह राजस दान है। किसी विशेष कामना से, प्रत्युपकार की आशंका से दान करने वाले आदमी बहुत मिल जात हैं। परंतु वास्तविक दानी तो वही है जिस ने एकवार जो धन अपने पास से दे दिया फिर उसके प्रतिफल की कामना नहीं की। निष्काम भाव से दिया हुआ दान सात्विक दान कहलाता है। जो मनुष्य गरीब को, जिस से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं, केवल उस की सहायता के लिए दान करता है वह सच्चा दानी पुरुष है। हम में व्यापारिक बुद्धि इतनी अधिक हो गई है कि दान भी वहीं देना चाहते हैं जहाँ प्रतिफल में कुछ मिले। परंतु ऐसे दानों से कभी यज्ञ नहीं चल सकता। निष्काम भाव से दिया हुआ दान मनुष्य को सुख देने वाला होता है। निष्काम भाव से दान करने वाला अनुपकारी को भी दान करता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने विष देने वाले भृत्य को भी जीवन दान दिया। वह दान वस्तुतः सात्विक दान है। यदि मनुष्य अपने सुख दुःख का विचार न करके केवल परोपकार भाव से, दूसरों की सेवा के विचार से दान करे तो शत्रु भी उसके मित्र हो जाते हैं, विषदायी भी भक्त बन जाते हैं। **'अनुपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते'**—वास्तविक महात्मा पुरुष तो वही है जो अनुपकारियों की भलाई करे, उन की सहायता करे। ऐसे महान पुरुष ही इस

द्वेषाग्निसंतप्त भूमण्डल पर स्नेहसुधा बरसाने वाले होते हैं। इन्हीं के कारण जगत् की स्थिति है।

## (4)
## कृपण पुरुष समाज का शत्रु है

**न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।**
**अपास्मा प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥४॥**

अर्थः–(स) वह पुरुष (सखा) मित्र (न) नहीं है, (यः) जो (सचमानाय) सेवा करने वाले (सचाभुवे) सदा साथ रहने वाले (सख्ये) मित्र के लिए (पित्वः) अन्न आदि को (न ददाति) नहीं देता। (अस्मात्) ऐसे कृपण पुरुष से (अपप्रेयात्) दूर हट जावे। (तत्) वह (ओकः न अस्ति) उस का घर नहीं। और वह (पृणन्तं) दान देने वाले (अन्यं) किसी दूसरे (अरणं चित्) अपरिचित व्यक्ति की ही (इच्छेत्) इच्छा करे॥

जो पुरुष इतना अधिक स्वार्थपूर्ण है कि अपनी सहायता करने वाले, सदा साथ रहने वाले मित्र के लिए भी त्याग नहीं कर सकता, वह समाज की सहायता करेगा ऐसी आशा करना व्यर्थ है। वह पुरुष कृतघ्न है। ऐसे पुरुष से कदापि किसी प्रकार की सहायता की आशा करना रेत से तेल निकालने की सी दुराशा मात्र है। उस को अपना मित्र समझना और उस के घर को अपना घर समझना भूल है। सच्चे मित्रों में परस्पर भेद भाव ही नहीं रहता। वे एक दूसरे के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझते हैं। जो मनुष्य आर्थिक सहायता करने के लिये उद्यत नहीं, वह मित्र कहलाने योग्य नहीं। उस के साथ मित्रवत् रहना व्यर्थ है। वह कृपण कृतघ्न व्यक्ति त्याज्य है। वह पतित है। उस की संगति करने की अपेक्षा किसी ऐसे अपरिचित व्यक्ति की संगति करना अधिक श्रेयस्कर है, जो समय–समय

पर सहायता कर सके, सुख दुःख का भागी बन सके। जो मनुष्य स्वयं दूसरों की सहायता नहीं करता वह दूसरों की सहायता प्राप्त करने का स्वयं भी अधिकारी नहीं।

## (5)
## दान अवश्य करना चाहिये

**पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्, द्राघींयांसमनुपश्येत पन्थाम्।**
**ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुपतिष्ठन्ति रायः।।५।।**

अर्थ–(तव्यान्) धनवान् पुरुष (नाधमानाय) याचक के लिए (पृणीयात् इत्) अवश्यमेव दान देवे। (द्राघीयांसं) अतिशय दीर्घ (पन्थां) जीवन मार्ग को (अनुपश्येत्) अच्छी तरह देखे। (हि) क्योंकि (रायः) धन (रथ्या चक्रा इव) रथ के पहियों के समान (आवर्तन्ते) बदलते रहते हैं। और (अन्यं अन्यं) एकसे दूसरे के पास (उपतिष्ठन्ते) आते रहते हैं।

लक्ष्मी चञ्चला है। यह कभी स्थिर नहीं रहती। विद्वान् पुरुषों ने इसकी उपमा कुलटा से दी है। यह नित्य प्रति अपने पति बदलती है। जो मनुष्य आज राजा है, कल रंक हो जाता है। आज नाना प्रकार के भोग करता है, कल दाने-दाने को तरसता है। सब की अवस्था सदा एक समान नहीं रहती। आज व्यापार में सफलता है, हजारों रुपये कमाता है। अगले दिन व्यापार नष्ट हो जाता है। आदमी दिवालिया बन जाता है। एक पुरुष आज बड़े भारी राज्य पर शासन कर रहा है, कल राज्यच्युत होकर प्राण बचाने के लिए देश विदेश भागता रहता है। राजनीतिक इतिहास ऐसे असंख्यों ज्वलन्त उदाहरणों से परिपूर्ण है। फ्रांस में लुई वंश, रूस में ज़ार के वंश तथा मध्यकालीन भारत में अनेकानेक मुगल तथा पठान बादशाह इस ऐतिहासिक सचाई को स्पष्ट रूप से बता रहे हैं। इसलिये मनुष्य को अपने समृद्धि

का अभिमान नहीं करना चाहिये। कौन जानता है कि कल क्या होगा– **'को मनुष्यस्य श्वो वेद।'**–शतपथ। दिन बदलते हुए देर नहीं लगती। मनुष्य की आयु बहुत दीर्घ है। इस दीर्घ जीवन यात्रा में कितनी ही बार ऐसे अवसर आ सकते हैं, जब कि मनुष्य को बुरे दिन देखने पड़ें। लक्ष्मी तो सदा चलायमान है। जिस प्रकार रथ के पहिये का हिस्सा घूमते-घूमते कभी ऊपर आता है और कभी नीचे चला जाता है, इसी प्रकार कभी मनुष्य के अच्छे दिन आते हैं और कभी बुरे। रोम में सम्पत्ति के बहुत प्रचुर हो जाने पर वहाँ के धनिक लोग धन से उन्मत्त होकर दासों को अपने रथ के पहिये के साथ बाँधकर, उस रथ पर स्वयं सवार होकर बाजार में से निकला करते थे। परंतु वे मूढ़ पुरुष यह नहीं जानते थे कि वे भी काल चक्र में इसी तरह घुमाये जा रहे हैं। आज वे समृद्ध हैं। कल वे ही दर-दर भटकेंगे। किसी कवि ने ठीक कहा है–

**आपद्गतं हससि किं द्रविणान्ध्मूढ़!**
**लक्ष्मीः स्थिरा न भवतीति विचित्रमेतत्।**
**एतान्न पश्यसि घटान् जलयंत्र चक्रे**
**रिक्ता भवन्ति भरिता भरिताश्च रिक्ताः॥**

हे धन से मतदमत मूढ़! आपत्तिग्रस्त पुरुष को देख कर क्यों हंसता है? यह आश्चर्य की बात है कि लक्ष्मी कभी स्थिर नहीं रहती। क्या अरहट की माल में बंधे हुए इन बर्तनों को नहीं देखता है कि इन में से खाली बर्तन पानी से भर जाते हैं और भरे हुए खाली हो जाते है?

यह अरहट की माल के बर्तन दुनिया की सचाई को हमारे सामने अत्यन्त प्रत्यक्ष रूप में रख रहे हैं। परंतु हम देखते हुए भी इस सचाई को अनुभव नहीं करते। सुंदर पुरुष कुरूप को देख कर हंसता है। स्वस्थ पुरुष व्याधिग्रस्त को धुत्कारता है। धनी पुरुष निर्धन का मजाक उड़ाता है। अपने-अपने अभिमान

में मनुष्य दूसरों का उपकार करने के बदले उन पर हंसता है। सुंदर के कुरूप होने में, नेत्रवान को अंधे होने में कोई देर नहीं लगती। मनुष्य में किसी क्षण में ही परिवर्तन आ सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को अपनी अवस्था पर कभी गर्व नहीं करना चाहिए। सदा पतितों की दुर्भिक्षपीड़ितों की, व्याधि ग्रस्तों की सेवा के लिए तत्पर रहना चाहिए। यदि हम अपने समाज में इस प्रकार सेवा की भावना को जाग्रत नहीं करेंगे तो भविष्य में हमें स्वयं इस का फल भोगना होगा। सम्भव है कालवश किसी दिन हम में ही किसी व्यक्ति को बुरे दिन देखने पड़ें। यदि हमारे समाज में सेवा भाव नहीं है तो समय-समय पर प्रत्येक व्यक्ति कष्ट पा सकता है। दुनिया में अच्छे बुरे दिन तो आते ही रहते हैं। सब दिन एक समान नहीं होते। इसलिए कष्ट से बचने का एकमात्र यही उपाय है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति दुर्बलों की, निर्धनों की सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझे। अपनी कमाई का कुछ अंश परोपकार में ही व्यय करे। जब तक समाज में दान की, त्याग की भावना जाग्रत् नहीं होती तब तक साम्यवाद आदि कोई भी 'वाद' मनुष्य समाज को सुखी नहीं बना सकता। दैवीय आपत्ति के दुःख से मनुष्य समाज को मुक्त करने का एक मात्र उपाय यही है कि मनुष्य यथाशक्ति कुछ न कुछ देवे ही– **'पृणीयादिन्नाधमानाय।'**

## (6)

## एकाकी भोग करने वाला अत्यन्त पापी होता है

**मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।**
**नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥६॥**

अर्थ-(अप्रचेता:) मूढ़ पुरुष (अन्नं) अन्न को (मोघं) व्यर्थ ही (विन्दते) प्राप्त करता है। (सत्यं ब्रवीमि) मैं सच कहता हूँ। (स) वह अन्न (तस्य) उस पुरुष का (वधः इत) विनाश करने वाला ही है। क्योंकि वह (न) न तो (अर्यमणं) श्रेष्ठ पुरुष को (पुष्यति) पुष्ट करता है। और (न) न ही (सखायं) अपने मित्र को अन्न आदि द्वारा पुष्ट करता है। वस्तुत: (केवलादी) एकाकी भोग करने वाला (केवलाघ:) बिलकुल पापी होता है।

जैसे पहले बताया जा चुका है कि इस सम्पूर्ण ऐश्वर्य का वास्तविक स्वामी जगदीश्वर ही है। मनुष्य तो केवल रखवाला है। वह परमात्मा का ट्रस्टी (Trustee) है। मनुष्य को जो धन अथवा अन्न प्राप्त होता है, वह प्रजा की सेवा के लिये समझना चाहिये। यज्ञचक्र को चलाये रखने के लिये मनुष्य को सब से पूर्व यज्ञार्थ त्याग करना चाहिये। हमारा यज्ञ-सामाजिक संगठन जितना अधिक दृढ़ होगा उतना ही समाज समृद्धिशाली होगा। जो मनुष्य न तो समाज के लिये सर्वस्व त्याग करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों के लिये कुछ दान करते हैं और न अपने मित्रों की ही सहायता करते हैं, वे पुरुष व्यर्थ ही धन लाभ करते हैं। किसी पुरुष को पुण्य प्राप्त करने का सुवर्णीय अवसर मिले और वह उस से लाभ न उठाए उस से अधिक मूढ़ कौन है? दक्षिणा तो "दैवी पूर्ती" है। दान देने से मनुष्य में दिव्य गुणों का विकास होता है। जो मनुष्य आत्मविकास के साधनों को रखता हुआ भी आत्मविकास का प्रयन्न नहीं करता उसका उन साधनों को, उस सामग्री को रखना ही व्यर्थ है। अच्छा होता कि धनधान्य किसी अन्य व्यक्ति के पास होता है, जो उसका सदुपयोग करता हुआ समाज की सेवा करता और अपनी उन्नति भी कर सकता। कृपण पुरुष के पास गया हुआ धन तो बजाय आत्मविकास के

उस का आत्मविनाश करने वाला होता है। कृपण पुरुष के पास रखा हुआ धन निरंतर उसके लोभ की, विषयासक्ति की मात्रा को बढ़ाने वाला होता है। अपने समीप रखे हुए धन को देख-देखकर दिन प्रतिदिन कृपण पुरुष की स्वार्थ बुद्धि बढ़ती जाती है। वह एकाकी ही सम्पूर्ण धन का उपभोग करना चाहता है। साधु महात्माओं की सेवा सुश्रूषा के लिए व्यय करना तो दूर रहा वह अपने मित्र तक को उस राशि से कुछ नहीं देना चाहता। स्वार्थ की पराकाष्ठा हो जाती है। यही स्वार्थ मनुष्य के विनाश का कारण बनता है। एकाकी धन का उपभोग करने वाला एक-एक ग्रास के रूप में लोभ मोह आदि पापों का सेवन कर रहा होता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है-

**देवाश्व वा ऽअसुराश्च वा उभये प्राजापत्योः पस्पृधिरे। ततो ऽसुरा अतिमानेनव कस्मिन्नु वयं जुहुयामेति रुवेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः। तेऽतिमानेनव पराबभूवः। तस्मान्नातिमन्येत, पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः।। अथ देवा अन्योऽन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः। तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ। यज्ञो हैपामास, यज्ञो हि देवानामन्नम्।।**

शतपथ 11.1.8.1-2

अर्थात् प्रजापति परमात्मा के दोनों पुत्रों-देव और आसुरों-में परस्पर स्पर्धा हो गई। तब असुरों ने इस अभिमान से कि हम किस में आहुति दें, अपने-अपने मुख में ही देनी शुरू कर दी। वे इस अधिक अभिमान के कारण ही पराजित हो गए। इसलिये अधिक अभिमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि अभिमान का आधिक्य मनुष्य के पराभव का कारण होता है। इसके प्रतिकूल देवों ने परस्पर एक दूसरे के लिए आहुति देते हुए ही उपभोग किया। उन देवताओं को प्रजापति परमात्मा ने अपना शरीर समर्पित कर दिया। यज्ञ ही देवों के पास प्रजापति का शरीर है। यज्ञ ही देवों का अन्न है। इस में कथानक रूप से बड़े सुंदर

शब्दों में स्वार्थ तथा परार्थ जीवन का फल प्रदर्शित किया है। स्वार्थ से मनुष्य का पराभव होता है, विनाश होता है और परार्थ से प्रजापति की प्राप्ति होती है, मुक्ति मिलती है। मनुष्य में जो अपनी इन्द्रियों को ही आराम पहुँचाने की, स्वयं ही भोग करने की वृत्ति है, वह आसुरी वृत्ति कहलाती है और जो परोपकार के लिये दूसरों को दान देने की वृत्ति है, वह दैवी वृत्ति है। प्रत्येक मनुष्य में देव तथा असुरों का वास है। स्वार्थ से असुरों की वृद्धि होती है और परार्थ से देवों की।

असुर मनुष्य के पराभव के कारण हैं और देव विजय के। जो मनुष्य एकाकी उपभोग करता है वह अपने में असुरों (पापों) की वृद्धि करता है और ये पाप ही उसके पराभव (वध) के कारण सिद्ध होते हैं। कृष्ण भगवान् ने अर्जुन को निष्काम कर्म करने का उपदेश देते हुए कहा है–

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः।**
**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म कारणात्॥**

गीता० 3.13

'यज्ञशेष का उपभोग करने वाले सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। परंतु जो पुरुष अपने लिये अन्न पकाते हैं, वे अन्न के रूप में पाप का भक्षण कर रहे होते हैं।'

स्वार्थ सब पापों का मूल है। सब पापों से मुक्त होने का एक मात्र साधन यज्ञार्थ त्याग है। अतएव हमें इस सचाई को अपनी हृदयस्थली पर अच्छी तरह अंकित कर लेना चाहिए कि–

**'केवलाघो भवति केवलादी'**

एकाकी उपभोग करना पाप का सेवन करना है। एकाकी उपयोग करने से सांसारिक मोह बढ़ता है, जो बंधन का कारण है। यज्ञार्थ त्याग करने से, औरों को खिला कर फिर खाने से

मोह टूट जाता है, मनुष्य को विषयों में आसक्ति नहीं रहती, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है। बहुत से प्राचीन आर्य घरों में अब तक भी इसी पुरातन प्रथा का अनुकरण किया जाता है कि एकाकी भोग करना अधर्म है। अपने खाने से पहले किसी अर्यमाब्राह्मण आदि श्रेष्ठ पुरुष को खिलाकर, अथवा दान देकर फिर स्वयं भोग करते हैं। मनुष्य जीवन एक यज्ञ है, यह समझते हुए हमें प्रतिदिन यज्ञार्थ त्याग के लिए अपनी कमाई का कुछ न कुछ अंश अलग रख देना चाहिए। यज्ञार्थ त्याग करने के अनन्तर ही हमें भोग करना चाहिए। धन के दान करने के निरन्तर अभ्यास से ही संसार से मोह बुद्धि का नाश और त्यागमय जीवन की सिद्धि हो सकती है। इसी में मनुष्य मात्र का कल्याण है।

## (7)

## दानी पुरुष दान न देने वाले से उत्कृष्ट होता है

**कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमपवृङ्क्ते चरित्रैः।**
**वदन् ब्रह्माऽवदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्।।७।।**

अर्थ–(कृषन्) खेती करता हुआ (फालः इत्) हल का फाल ही (आशिंत कृणोति) मनुष्य को भोक्ता बनाता है। वह फाल (अध्वानं यन्) मार्ग पर चलता हुआ (चरित्रैः) अपने पैरों से (अपवृड़क्ते) रास्ता काटता है। (वदन् ब्रह्मा) ज्ञान देने वाला ब्राह्मण (अवदतः) न बोलने वाले ब्राह्मण की अपेक्षा (वनीयान्) अधिक सेवनीय है। (पृणन्) दान देने वाला (आपिः) प्राणि मात्र का बंधु (अपृणन्तं) दान न देने वाले को (अभिस्यात्) अतिक्रांत कर जाता है। अर्थात् दानी पुरुष दान न देने वाले से अधिक उत्कृष्ट है।

यज्ञ मनुष्य के लिए इष्टकामधुक् है। यज्ञ द्वारा प्रत्येक कामना पूर्ण की जा सकती है। परंतु यज्ञ का संचालन बिना दान के नहीं हो सकता। यह यज्ञ का मुख्य साधन है। दान अथवा त्याग के लिए तपस्या अपेक्षित है। इन्द्रियाराम, विषय भोगी पुरुष कभी त्याग नहीं कर सकता। त्याग करने के लिए अपने सुखों को, विशेषतः विषय सुखों को भी छोड़ना पड़ता है। त्याग के लिए तप की आवश्यकता है। यज्ञ, दान और तप मनुष्य अथवा समाज की उन्नति के लिए परम आवश्यक हैं। कृष्ण भगवान् ने गीता में इन तीनों को सत् कहा है। स्वयं तपस्या करके कष्ट उठाकर दूसरों के लिए त्याग करते हुए यह सम्पादन करने वाले ही सज्जन कहलाने योग्य हैं। ऐसे पुरुष ही समाज की उन्नति करने वाले होते हैं। हम जो अन्न खाते हैं। वह एक किसान की तपस्या का फल है। किसान को जो अन्न प्राप्त होता है। वह वस्तुतः उस फाल की तपस्या है, जो अपने तीक्ष्ण अग्रभाग से भूमि को खोद कर उसे कृषि योग्य बनाता है। जंगल में पड़े हुए लोहखण्ड की अपेक्षा उपकार में काम आने वाला फाल अधिक सफल है। स्वयं ज्ञान प्राप्त करके दूसरों को न बताने वाले ब्राह्मण विद्वान् पुरुष की अपेक्षा उपदेश देने वाला, तत्व ज्ञान प्रवचनकर्ता ज्ञानी पुरुष अधिक सेवनीय है। क्योंकि वह ज्ञानी पुरुष ज्ञान का प्रदान करता है। जो पुरुष दूसरों की सेवा नहीं करता, दूसरों को कुछ भी दान नहीं करता वह दूसरों की श्रद्धा तथा आदर का पात्र भी नहीं बन सकता। जो पुरुष दान करते हैं वे सब के बंधु बन जाते हैं। यदि अपना संबंधी भी त्याग या किसी प्रकार की सहायता नहीं करता तो उस की अपेक्षा किसी भी प्रकार का रुधिर संबंध न रखने वाला भी दानी, सहायक पुरुष अधिक निकट बंधु हो जाता है। वास्तविक बंधुत्व रुधिर संबंध से नहीं बनता प्रत्युत पारस्परिक

त्याग भाव से उपजता है। त्यागी दानी पुरुष सब का बंधु बन जाता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर आया है–

**'यज्वाऽयज्योर्विभजाति भोजनम्।**

2.26.1

अर्थात् यज्ञ करने वाला पुरुष ही यज्ञ न करने वालों को धन बांटता है। समाज में जो सम्पत्ति उत्पन्न होती है वह केवल सामाजिक यज्ञ सम्पादन करने वाले ऋत्विजों की कृपा से होती है। इन्द्रियाराम स्वार्थी पुरुषों के पास जो धन आता है वह सब तपस्वी, त्यागी और यज्ञ में भाग लेने वाले पुरुषों के पौरुष के कारण ही प्राप्त होता है। समाज को जीवित रखने वाले वास्तविक पुरुष तप, दान, तथा यज्ञ करने वाले ही हैं। अन्न ज्ञान और धन आदि सभी वस्तुओं की प्राप्ति इन्हीं तपस्वी, त्यागी यज्ञकर्ताओं के प्रभाव से होती है। समाज को जीवित जाग्रत् रखने के लिए कठोर तप, त्याग तथा परोपकारमय कर्म करने की आवश्यकता है। मनुष्य का वैयक्तिक सुख भी इसी में निहित है।

## (8)
## आर्थिक विषमता

**एकपाद्भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।**
**चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमानः॥८॥**

अर्थ–(एक पाद्)[1] धन का एक अंश रखने वाला पुरुष द्विपदः) धन के दो अंश रखने वाले के पास (भूयः) बार –बार

1. एकः पादोऽशों अस्येति एकपाद्। एवमेव द्विपाद्, त्रिपाद् तथा चतुष्पाद् पद समझने चाहियें।

(विचक्रमे) जाता रहता है (द्विपाद्) धन के दो अंश रखने वाला पुरुष (त्रिपाद्) धन के तीन अंश रखने वाले के (पश्चात् अभ्येति) पीछे-पीछे चलता है। (चतुष्पाद्) धन के चार अंश रखने वाला पुरुष (द्विपदां) धन के दो अंश रखने वाले पुरुषों के (अभिस्वरे) निमंत्रण देने पर (उपतिष्ठमान:) निमन्त्रण देने वालों के समीप आकर (पंक्तीः संपश्यन्) उनकी पंक्तियों को गौर से देखता हुआ (एति) अपने स्थान पर बैठता है।

सब पुरुष एक समान धनी नहीं। किसी के पास सम्पत्ति का एक अंश है , किसी के पास दो किसी के पास तीन और किसी के पास चार अंश है। इस यज्ञ में एक भिक्षुक धन से मदमत्त पुरुष को कह रहा है कि हे मूढ़! दुनिया में धन की विषमता तो बनी हुई है। मैं आज निर्धन हूँ। तुम मुझ से अधिक सम्पत्ति वाले हो। परंतु तुम से भी ज्यादा सम्पत्तिशाली इस दुनिया में हैं। मैं अपनी सहायता के लिए तुम्हारे पास आया हूँ और तुम मुझे दुत्कारते हो, धन के मद में आकर मेरी परवाह नहीं करते। परंतु तुम यह स्मरण कर लो कि तुम से भी अधिक सम्पतिशाली लोग इस संसार में निवास करते हैं। तुम्हें भी अपनी सहायता के लिए उनके दरवाजों पर जाना पड़ेगा जिस प्रकार तुम मुझे गरीब समझ कर दुत्कारते हो, तुच्छ समझते हो, उसी प्रकार वे भी तुम्हें तुच्छ समझेंगे और दुत्कारेंगे। मनुष्य तो एक सामाजिक प्राणी (Social being) है। प्रत्येक मनुष्य को एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा रहती ही है। धन, अन्न, ज्ञान, तथा अन्यान्य शक्तियों के भेद से मनुष्य जाति में भेद सदा बना रहेगा परंतु समाज में धनी पुरुषों में जो इतनी अभिमान की प्रवृत्ति है वह समाज के प्रेम संबंध को विच्छिन्न करने वाली है। धन के मद में आकर अपने से कम धन वालों को तुच्छ समझना, उनके निमंत्रण देने पर अकड़ कर

जाना और उन पर अपना एहसान जतलाना धनी पुरुषों का स्वभाविक गुण बन जाता है। धन के कारण पारस्परिक व्यवहार में इनका ऊंच नीच का भेद हो जाना समाज का विघातक है। इस से समाज में भाईचारे का पवित्र संबंध नहीं रहने पाता। वह भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विच्छृंखल हो जाता है। समाज में एक दूसरे की सहायता के भाव नष्ट हो जाते हैं। प्रेम संबंध जाता रहता है। सामाजिक जीवन नही रहने पाता। धनी मानी पुरुष पैसे के लोभ में लोगों से खुशामद वगैरह करवाते रहते हैं। धनी पुरुष खुशामद के भूखे हो जाते हैं और गरीब लोगों में खुशामद चापलूसी, चुगलखोरी, दगा फरेब आदि दुर्गुण बढ़ने लगते हैं। समाज में सदाचार नहीं रहने पाता। शनैः-शनैः व्यभिचार, चोरी हत्या आदि भी बढ़ने लगते हैं। इस प्रकार खोखला हुआ समाज अथवा जाति दूसरों के चंगुल में फंस जाती है। इन सब अनर्थों का मूल धनी पुरुषों का स्वार्थ पूर्ण तथा हृदय शून्य जीवन है। मध्य कालिक भारत तथा ज़ार कालिक रूस के आन्तरिक विद्वेष का मूल कारण यही पाया जाता है। जब तक धनी पुरुष यह नहीं समझेंगे कि हम समाज के सवेक हैं, धन आदि द्वारा समाज का उपकार करना हमारा कर्तव्य है तब तक समाज सुसंगठित नहीं हो सकता। जिस प्रकार सब आश्रमों का आधार गृहस्थ है क्योंकि उसी से ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी अपनी-अपनी जीविका प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सब वर्णों का आश्रय वैश्यों को समझना चाहिये। वे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा शूद्रों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले होते हैं। यदि वैश्य अपना धर्म पालन न करें तो समाज के अन्य वर्ण भी शिथिल पड़ जाते हैं। जिस समाज में धनी पुरुष त्याग की प्रवृत्ति वाले हैं, ब्राह्मण क्षत्रिय तथा शूद्रों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते रहते हैं, वही समाज फलता फूलता है।

## ( ९ )
## उपसंहार

**समौ चिद्धस्तौ न समं पृणीतः।**
**सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।।**
**यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि**
**ज्ञाती चित्सन्तो न समं पृणीतः।।९।।**

अर्थ–(हस्तौ) दोनों हाथ (समौ चित्) बराबर होते हुए भी (समं) एक समान (न पृणीतः) काम नहीं करते। (सम्मातरा चित्) एक माता वाली गौएं भी (समं) एक समान (न दुहाते) दूध नहीं देती। (यमयोः चित्) दो सहोदर युगल भाइयों के भी (वीर्याणि) पराक्रम (समा न) एक समान नहीं होते। (ज्ञातीचित् सन्तौ) संबंधी होते हुए भी दो पुरुष (समं) एकसमान (न पृणीतः) दान नहीं करते।

विविधता सृष्टि का स्वाभाविक गुण है। प्रलय काल में सब पदार्थ एक रूप हो जाते हैं। सब की अपनी पृथक् सत्ता नष्ट हो जाती है। परंतु सृष्टि में सब पदार्थ भिन्न-भिन्न नाम और रूप वाले होते हैं। प्रत्येक का गुण कर्म स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है। एक ही मनुष्य के दोनों हाथों में भी पूर्ण समानता नहीं होती।

दोनों एक समान कार्य नहीं कर सकते एक ही माँ से उत्पन्न हुई-हुई दो गौओं का दूध एक समान नहीं होता। गुण और परिणाम में भेद होता है। एक माता के दो सहजात भाइयों के शरीर, बुद्धि, मन, पराक्रम प्रभृति में अन्तर होता है। संसार

में कोई भी दो पदार्थ पूर्णतया एक समान नहीं होते। प्रत्येक पदार्थ का अपना अन्तर्निहित गुण (inherent quality) कुछ न कुछ भिन्न होता है। जिस प्रकार शरीर, मन, अन्त:करण तथा बुद्धि, प्रतिभा, स्मृति आदि गुणों का एक समान बटवारा नहीं, उसी प्रकार संसार में धन का भी एक समान बटवारा नहीं हो सकता। धनप्राप्ति तो सामाजिक संगठन तथा परिस्थितियों (Social construction and environments) पर तथा मनुष्य की अपनी शक्ति पर निर्भर है। समाज का संगठन ऐसा दूषित एवं कलुषित नही होना चाहिये कि कहीं तो सम्पत्ति मात्रा से ज्यादा एकत्र हो जावे और कहीं उसका अत्यन्ताभाव हो। सम्पत्ति का वितरण (Distribution) इस प्रकार होना चाहिये कि समाज में बहुत विषमता न आ जावे। अत्यन्त पूर्ण समानता तो की ही नहीं जा सकती। समान साधनों से ही एक मनुष्य अपनी प्रतिभा एवं बुद्धि से अधिक उत्पत्ति कर सकता है और दूसरा कम। इसलिये उत्पत्ति (Production) तथा वितरण (Distribution) की दृष्टि से पूर्ण आर्थिक समानता कर सकना असम्भव है। यदि मनुष्य के लिए पूर्ण आर्थिक समानता कर सकना सम्भव होता तो सम्भवत: किसी प्रकार के दान की व्यवस्था (Institutions of charity) की आवश्यकता न होती। परंतु आर्थिक विषमना तो त्रिकाल में बनी ही रहेगी। इस विषमता के रहते हुए एक दूसरे की सहायता करना, दान देना मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। प्रत्येक भाग्यवान व्यक्ति को दुखावस्थापन्न व्यक्ति के लिए अथवा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक भलाई के लिए अपनी कमाई का कुछ अंश अवश्य ही धर्मार्थ त्याग करना ही चाहिये। प्रत्येक मनुष्य एक समान तो त्याग कर ही नहीं सकता। अपनी कमाई और आवश्यकता के भेद से दान की राशि में तो भेद होना स्वाभाविक है। परंतु

अपनी स्थिति के अनुसार त्याग अवश्य करना चाहिये। जिस प्रकार दो हाथों का एक समान कार्य न कर सकना तो स्वाभाविक है, परंतु उन-उन में से किसी का सामर्थ्यशून्य हो जाना स्वाभाविक नहीं, प्रत्युत दोषपूर्ण है। एवमेव मनुष्यों का एक समान दान न दे सकना तो स्वाभाविक कहा जा सकता है परंतु किसी का बिलकुल दान न देना स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। कुछ न कुछ, किसी न किसी रूप में तो त्याग करना ही चाहिये। धन का त्याग तो आदर्श उच्च त्याग के लिए प्रथम सोपान मात्र है। इस के त्याग करते रहने से मनुष्य की मनोवृत्ति कुछ-कुछ त्यागमय बन जाती है। धन के त्याग की प्रवृत्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जावेगी त्यों-त्यों मनुष्य उच्च त्याग के निकट पहुँचता जाएगा। अंत में मनुष्य सर्वमेध करके, सम्पूर्ण त्याग करके पूर्ण संन्यासी पूर्ण त्यागी बन सकता है। यह संन्यास ही मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसी से मनुष्य जीवन्मुक्त हो सकता है। वैदिक कर्म का मर्म इसी में है

**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।**

ओम् शम्

# विशेष प्रचारित पुस्तकें

| | |
|---|---|
| यज्ञ-मीमांसा | डॉ॰ रामनाथ वेदालंकार |
| पथ की पहचान | आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री |
| वेद के अनुपम विचार | पं॰ विष्णुदयाल |
| हिन्दू शतकम | डॉ॰ दीनबन्धु चन्दोरा |
| महापुरुषों के जीवन से सीखें | आचार्य अभिमन्यु |
| संस्कार समुच्चय | पं॰ मदनमोहन विद्यासागर |
| वैदिक सम्पत्ति | पं॰ रघुनन्दन शर्मा |
| याज्ञिक आचार संहिता | पं॰ वीरसेन वेदश्रमी |
| नये युग की ओर आर्यसमाज | डॉ॰ चन्द्रशेखर लोखण्डे |
| दयानन्द प्रश्नोत्तर-संवादनिधि | पं॰ सत्यानन्द वेदवागीश |
| रामायण-सूक्तिसुधा | डॉ॰ सुभाष विद्यालंकार |
| कालीदास-सूक्तिसुधा | डॉ॰ सुभाष विद्यालंकार |
| आनन्द की खोज (उपनिषदों के आधार पर) | डॉ॰ बलदेव सहाय |
| वैदिक धर्म और इस्लाम | डॉ॰ आनन्द सुमन |
| धर्म (तुलनात्मक अध्ययन) | प्रिंसिपल दिवानचन्द |
| पूर्वाहुति (स्वतन्त्रता संग्राम पर काव्य) | डॉ॰ द्वारिकाप्रसाद अग्रवाल |
| यजुर्वेदभाष्य (दो भागों में) | पं॰ हरिशरण सिद्धान्तालंकार |
| सामवेदभाष्य (दो भागों में) | पं॰ हरिशरण सिद्धान्तालंकार |
| सामवेद व्याख्या (अग्नेय पर्व की व्याख्या) | पं॰ हरिशरण सिद्धान्तालंकार |
| ऋग्वेद मूल संहिता (मूल भाग) | सं॰ स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती |
| अथर्ववेद मूल संहिता (मूल भाग) | सं॰ स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती |
| सामवेद मूल संहिता (मूल भाग) | सं॰ स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती |
| यजुर्वेद मूल संहिता (मूल भाग) | सं॰ स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती |
| भारत में मूर्तिपूजा | पं॰ राजेन्द्र |
| धरती का स्वर्ग (वैदिक पञ्चदेवपूजा) | डॉ॰ ओमप्रकाश वेदालंकार |
| दर्शनानन्द ग्रन्थ-संग्रह (ट्रैक्ट संग्रह) | सं॰ स्वामी जगदीश्वरानन्द |
| धनुर्वेद (यजुर्वेद का उपवेद) | डॉ॰ देवव्रत आचार्य |
| सुरभि-तरंग (हमारी मान्यताएँ) | अर्चना विद्यालंकार |
| लोक-परलोक (जन्म-मरण [illegible] | पं॰ वेदप्रकाश शास्त्री |
| योग और स्वास्थ्य | आचार्य भद्रसेन |
| अमृत पथ (लेखों का संग्रह) | श्री कृष्णौतार |
| मत मतान्तरों का [illegible] | पं॰ लक्ष्मण जी आर्योपदेशक |

# त्याग की भावना

ऋग्वेद के दो सूक्तों 'दक्षिणा–सूक्त' व 'दान–सूक्त' की विशद् व मार्मिक व्याख्या इस पुस्तक में प्रस्तुत है जो त्याग की ओर प्रेरित करते हुए कहते हैं:–

'त्याग के मार्ग का अनुसरण करता हुआ मनुष्य शनैः–शनैः देवयज्ञ को प्राप्त हो जाता है, और आसक्ति तथा स्वार्थ का जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य असुरभाव को प्राप्त होता है।'

'एकाकी भोग करने वाला पापी होता है, विषय से आसक्ति हटाकर दीन–दुखियों की सहायता करना तथा समाज की सामूहिक भलाई के लिए यथा सम्भव तन–मन–धन का त्याग करना चाहिए'–यही सन्देश ऋग्वेद के यह दोनों सूक्त दे रहे हैं।

त्यागमय जीवन से ही वास्तविक सुख की उपलब्धि होती है। त्यागी महात्मा पुरुष को त्रिविधशांति प्राप्त होती है। वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों सुखों का उपभोग करता है।

इसलिए मनुष्य को चाहिये कि जहाँ तक हो सके अपनी कमाई का पर्याप्त भाग परोपकार के लिए व्यय करता रहे।

**त्याग के समान कोई सुख नहीं है।**

–महात्मा गांधी

**त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से पाप का ब्याज।**

–विनोबा भावे

**त्याग के सिवा इस संसार में कोई शक्ति नहीं ।**

–स्वामी रामतीर्थ

तो आईए अपना जीवन त्यागमय बनाएँ।

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द